भगवान श्री कुन्दकुन्द-कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प : १३

प्रकाशक :

श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ : सौराष्ट्र

इस पुस्तककी यह पंचम आवृत्तिकी दशहजार प्रतियाँ, बम्बईमें पू० श्री कानजी स्वामी की ७५ वीं हीरकजयंती के हर्षोपलक्षमें सेठ श्री पूरणचन्दजी गोदीका द्वारा प्रदत्त दानसे प्रकाशित की गई है, एतदर्थ उनको धन्यवाद !

मुद्रक :

नेमीचन्द बाकलीवाल

कमल प्रिन्टर्स : मदनगंज-किशनगढ़

प्रस्तावना

१–सत्तास्वरूप नामक शास्त्र श्रीमान् पं० भागचन्दजीने हिन्दीमें रचा था, उसका गुजराती अनुवाद इस संस्थाकी ओर से वीर सं० २४७० की फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को प्रगट हुआ था।

२–इस शास्त्र में मुख्यतया दो विषय लिये गये हैं। (१) अरहंतदेवका स्वरूप और (२) सर्वज्ञकी सिद्धि। यह दोनों विषय इस शास्त्रमें बहुत ही स्पष्टतया समझाये गये हैं।

३–कई लोग यों कहते हैं कि 'तत्त्वनिर्णय इस कालमें बिलकुल नहीं हो सकता' किन्तु यह मान्यता एकदम गलत है और तत्त्वनिर्णयरूप धर्म बालक–वृद्ध, रोगी–नीरोगी, धनवान–निर्धन, सुक्षेत्री–कुक्षेत्री इत्यादि सभी अवस्थाओंमें और सर्व कालमें प्राप्त हो सकता है। इस प्रकार उस ग्रन्थमें कहा गया है। साथ ही यह भी बताया गया है कि–जो तत्त्वनिर्णय नहीं करते, उनका समस्त कार्य असत्य है, इसलिये सत्य आगमका सेवन, युक्तिका अवलम्बन, परम्परा गुरुओंका उपदेश और स्वानुभवके द्वारा तत्त्वनिर्णय अवश्य करना चाहिये।

४–सम्यग्दर्शन धर्मकी पहली सीढ़ी है। तत्त्वनिर्णयके बिना वह हो ही नही सकता, इसलिये उसे प्राप्त करनेके लिये जीवोंको खास प्रेरणा की है।

५–केवल कुल–धर्मको लेकर मान्यता करने से जीवका गृहीतमिथ्यात्व दूर नहीं हो जाता, भले ही वह मान्यता सच्चे वीतरागदेवकी ही क्यों न हो। और फिर गृहीतमिथ्यात्वके दूर हुए बिना अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता, इसलिये गृहीतमिथ्यात्व का स्वरूप और उसे दूर करनेका उपाय उपर्युक्त शास्त्रमें है।

६—जब तक मुमुक्षु जीव संसारकी ओरका अपना राग बदल कर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रको पहचान कर उनकी ओर नहीं ले जाता तबतक उसका गृहीत मिथ्यात्व दूर नहीं होता। इसलिये इस शास्त्रमें यह भी बताया गया है कि मुमुक्षु जीवोंको पहले राग किस दिशामें बदलना चाहिये और ऐसे मुमुक्षुके पहले किस प्रकारका राग होता है। यह भव्य जीवोंको समझने के लिये पू० श्री कानजी स्वामी द्वारा वीर सं० २४७० में आठ दिन तक दिये हुए इस शास्त्र के पृष्ठ १ से २४ तक के व्याख्यान प्रसिद्ध किये हैं।

मुमुक्षुओं से प्रार्थना

७—इन व्याख्यानोंका सूक्ष्म दृष्टिसे अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि सच्चे शास्त्रका धर्मबुद्धि के द्वारा अभ्यास करना सो सम्यग्दर्शनका कारण है, इसके अतिरिक्त निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखनी चाहिये :—

१—पहले सम्यक्त्वोन्मुख जीवका राग संसारकी ओर से दूर होकर सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रकी ओर जाता है किन्तु वह उस राग में धर्म नही मानता, धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे ही होता है। सम्यग्दर्शन विपरीत अभिप्राय रहित तत्त्वार्थश्रद्धान से होता है।

२—सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना किसी भी जीवके सच्चे व्रत, सामायिक, प्रतिक्रमण, तप और प्रत्याख्यान इत्यादि नहीं होते, क्योंकि वह क्रिया पहले पांचवें गुणस्थानमें होती है।

३—शुभभाव ज्ञानी और अज्ञानी दोनों के होता है। किन्तु अज्ञानी यह मानता है कि उससे धर्म होगा और ज्ञानी यह मानता है कि उससे कभी धर्म नहीं हो सकता।

४—इससे यह नहीं समझना चाहिए कि शुभभाव करनेका निषेध किया जा रहा है, किन्तु उस शुभभावको धर्म नहीं मानना

चाहिये और न यह मानना चाहिये कि उसके द्वारा क्रम २ से धर्म होगा, क्योंकि अनन्त वीतरागोंने उसे बंधका ही कारण कहा है।

५–एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, उसे परिणमा नही सकता, प्रेरणा नहीं कर सकता, उस पर कोई असर, मदद या उपकार नहीं कर सकता, लाभ या हानि भी नहीं कर सकता। न वह मार ही सकता है और न जिला ही सकता है, सुख–दुःख वह नहीं दे सकता, इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य–गुण–पर्यायकी सम्पूर्ण स्वतंत्रताको अनन्त ज्ञानियोंने पुकार पुकार कर कहा है।

६–जिनमतमें ऐसी परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है और फिर व्रत होता है। उसमेंसे सम्यक्त्व स्वपरका श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोगका अभ्यास करनेसे होता है, इसलिये पहले द्रव्यानुयोगके अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि होना चाहिये–ऐसा पंडित प्रवर श्री टोडरमल्लजीने फरमाया है।

७–प्रथम–गुणस्थान में जिज्ञासु जीवों के सत् शास्त्रका अभ्यास, पठन, मनन, ज्ञानी पुरुषों के धर्मोपदेशका श्रवण, निरन्तर उनके समागम, जिन पूजा, भक्ति, दान, ब्रह्मचर्य इत्यादि शुभभाव होते हैं किन्तु प्रथम गुणस्थानमें सच्चे व्रत और तप इत्यादि नही होते। निमित्त–व्यवहार–पुण्यादिका सर्वथा निषेध नहीं किया है किन्तु उसमे मिथ्या अभिप्राय हो उसीका निषेध है।

८–इन व्याख्यानोंमें गृहीत और अगृहीत मिथ्यात्वका तथा दान इत्यादि का जो स्वरूप दर्शाया गया है वह विशेषतः पुनः पुनः पढ़कर विचार करने योग्य है।

फाल्गुन कृष्णा ५ रामजी माणेकचन्द दोशी
वीर नि. सं. प्रमुख–श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
२४८६ सोनगढ़–सौराष्ट्र

निवेदन

जैनसमाजके सुप्रसिद्ध अध्यात्मसन्त पू० श्री कानजी स्वामीने आजसे करीब २१ वर्ष पहले (वीर सं० २४७० में), श्रीमान् पं० भागचन्दजी रचित सत्तास्वरूप ग्रंथके कुछ भाग पर ८ प्रवचन बहुत सुगम शैलीसे किये थे, जिसमें सच्चे देवगुरुधर्मकी पहचान कराने की प्रधानता थी। यह प्रवचन गुजराती भाषामें प्रथम "अमृत झरणां" के नामसे प्रकाशित हुआ था, उसीके हिन्दी संस्करण 'मुक्तिका मार्ग' की यह पांचवीं आवृत्ति है। इस आवृत्तिमें साहित्यदृष्टिसे आवश्यक संशोधन किया है।

मुक्तिमार्गके मूल प्रणेता भगवान अरहन्तदेव हैं, इसलिये मुमुक्षुको सबसे पहले भगवान अर्हन्तदेवके स्वरूपकी पहचान करनी चाहिये; सर्वज्ञकी सत्ताका यथार्थ निर्णय करना चाहिए। अर्हन्तके स्वरूपकी पहचानके बिना जीव उसका सच्चा भक्त (अर्थात् जैनी) नहीं हो सकता है; इसलिये अर्हन्तदेवके स्वरूपका निर्णय करनेका मुख्य उपदेश इन प्रवचनोंमें दिया है, जो सभी जैनोंके लिये बहुत उपयोगी है। हिन्दी गुजराती मिलकर इस पुस्तककी आठ आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। मुमुक्षु बन्धुओं इस पुस्तकके द्वारा सर्वज्ञका स्वरूप पहचान कर अपनी अर्हन्तभक्तिको पुष्ट करो....यही अभ्यर्थना।

"महावीरजन्मकल्याणक"
सोनगढ़

—ब्र० हरिलाल जैन

प्रवचनोंकी विषय सूची

★

जिनवरस्वामी व सम्यक्त्व

कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अणंतु ।
जीवि विण्णि ण पत्ताइं जिणु सामिउ सम्मत्तु ॥१४३॥

काल अनादि है, जीव भी अनादि है, भवसागर अनन्त है; इस भवसागरमें निजशुद्धात्मभावनासे च्युत जीवने दो वस्तु कभी नहीं पायी; एक तो परम आराध्य श्री जिनवरस्वामी, और दूसरा सम्यक्त्व।

(–परमात्मप्रकाश)

*

जो जाणइ अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयत्तेहिं ।
सो जाणइ अप्पाणं मोहो खलु जाइ तस्स लयं ॥८०॥

जो जीव अर्हन्त भगवानके शुद्ध द्रव्य–गुण–पर्यायको जानता है वह अपने शुद्धात्माको जानता है और उसका मोह अवश्य लय हो जाता है, अर्थात् उसको नियम से सम्यक्त्व होता है।

—भगवत् कुन्दकुन्द

श्री सीमंधर भगवान : सोनगढ़

मोक्षमार्गस्य नेतारं
भेतारं कर्मभूभृताम्
ज्ञातारं विश्वतत्वाना
वन्दे तद्गुणलब्धये ।

पू० श्री कानजी स्वामी

जिन्होंने भगवान अर्हन्तदेव कथित मुक्तिका मार्ग
दिखाकर अनेक भव्य मुमुक्षुओं पर उपकार
किया है व कर रहे हैं ।

मुक्तिका मार्ग
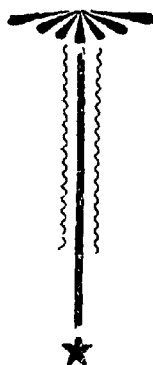
[सत्तास्वरूप शास्त्र पर पू० श्री कानजी स्वामी के प्रवचन]

* श्री सर्वज्ञाय नमः *

प्रवचन : १

तत्त्वनिर्णयकी दुर्लभता

"ॐ श्री सर्वज्ञाय नमः" इसमें पहले जो 'ॐ' है वह तीर्थंकर भगवानकी एकाक्षरी दिव्यध्वनि है। जब पूर्णानन्द दशा प्रकट होती है तब पूर्व पुण्यबन्धके कारण तीर्थंकर भगवानके बिना ही इच्छाके ॐ इस प्रकारकी सहज ध्वनि प्रगट होती है। वहां तीर्थंकरकी धर्मसभामें गणधरदेव होते हैं, जो अनेक लब्धिधारी होते हैं, वे गणधरदेव भगवानकी ओम्कारध्वनिको झेलकर शास्त्ररचना करते हैं, इसलिये यहां सर्व प्रथम ॐ शब्द रखा गया है। वह वाणी सर्वज्ञ वीतराग अर्हंतदेवके ही होती है।

इस शास्त्रका नाम सत्तास्वरूप है। सत्ता स्वरूपका अर्थ है:- जो जैसा है उसका उस प्रकारसे निश्चय करना। सत्ता अर्थात् 'होना', जो "है" उसकी चर्चा है। यहाँ सर्वज्ञकी सत्ताकी बात है; मुमुक्षुको सर्वज्ञदेवके स्वरूपका निर्णय करना चाहिये।

❀ ग्रंथकारका मंगलाचरण ❀

मंगलमय मंगलकरन, वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जातैं भये, अर्हंतादि महान्॥

इस मंगलाचरणमें वीतरागविज्ञानको नमस्कार किया है, जो अरहंत, सिद्ध इत्यादि महान हुये है वे वीतरागविज्ञानके कारण हुये हैं। लौकिक कलामें वीतरागविज्ञान नहीं है। केवलज्ञान व मोक्ष तो वीतरागी विज्ञानसे ही होता है इसलिये वास्तविक आदर तो वीतरागविज्ञानका ही होता है; इसीसे अरहंत और सिद्ध आदि महान हुये हैं। ध्यान रहे कि यहाँ पर मात्र वीतराग या मात्र विज्ञान नहीं कहा है किन्तु 'वीतराग विज्ञान' इन दोनोंको एक साथ कहा है।

वह वीतरागविज्ञान कैसा है? वह स्वयं मंगलमय है, स्वयं मंगलस्वरूप है-यों कहकर पहले तो मांगलिकको अभेदरूप में ले लिया है। वीतराग-विज्ञानसे स्वरूपकी सम्पदा प्रगट हुई है और पुण्यपापकी आकुलताका नाश हुआ है, इसलिये वह वीतराग-विज्ञान स्वयं मंगलस्वरूप है।

वीतराग-विज्ञानका अर्थ है सम्यग्ज्ञान। वह स्वयं ही मंगलमय है और मंगलका कारण है। सच्चा ज्ञान-वीतरागीज्ञान-

तत्त्वज्ञान आत्मज्ञान यह सब मंगलस्वरूप है और मंगलका उपाय भी यही है। वह आत्माकी स्वरूप-सम्पदा प्राप्त करने-रूप मंगलका कारण है। इसलिये यहाँ पर शास्त्रकारने शास्त्र के प्रारम्भमे ही उसे नमस्कार किया है। इस वीतरागविज्ञान के कारण ही अर्हंतादि महान हुये हैं। वीतराग-विज्ञानको प्राप्त करके ही पंच परमेष्ठियोंने शुद्ध आत्मतत्त्व पाया है।

इस ग्रंथके कर्ता पण्डितजी श्री भागचन्दजी गृहस्थ थे। उनने इस ग्रंथमें गृहीतमिथ्यात्वको छुड़ानेके लिये बहुत ही प्रभावक ढंगसे कथन किया है। शुद्ध जैनसम्प्रदाय पाकरके भी बहुतसे जीव सच्चे देव, शास्त्र और गुरुका निर्णय नहीं करते; और यदि कोई जीव मात्र सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका निर्णय करले किन्तु आत्मतत्त्वका निर्णय न करे तो उसके शुभभाव होगा, लेकिन धर्म नहीं होगा। और सच्चे देव, शास्त्र, गुरुको पहिचाने बिना और उनकी भक्ति प्रगट हुये बिना आत्माकी पहिचान नहीं हो सकती। इसलिये सबसे पहले सत्तास्वरूपमें देव, शास्त्र, गुरुके सच्चे स्वरूपका वर्णन किया है। इसकी पहचान व बहुमान करना प्रत्येक जैनका कर्त्तव्य है।

सभी जीव सुख चाहते हैं। जो काम करना चाहते हैं, वह सब सुख प्राप्त करनेकी इच्छासे ही करते हैं। प्रत्येक क्रियासे वे सुख प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरेको मारते हैं वह भी सुखके लिये, पर-वस्तुकी चोरी करते हैं वह भी सुखके लिये, झूठ बोलते हैं सो भी सुखके लिये और धन दौलतका परिग्रह करते हैं सो भी सुखके लिये, इसप्रकार अनेकविध पाप करके भी अज्ञानी जीव

सुख प्राप्त करना चाहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख तो सभी को प्यारा है; किन्तु सुखके सच्चे उपायकी अनादिकालसे खबर नहीं है। सब लोग धर्म सुननेको किसलिये एकत्रित होते हैं ? सभी सुखकी इच्छासे ही आते हैं किन्तु सच्चे तत्त्वनिर्णयके बिना सुख नहीं होता; जीवने अनन्तकालमें तत्त्वका यथार्थ निर्णय नहीं किया। यदि तत्त्वनिर्णय हो जाय तो उसमें रमणताका भाव हुये बिना न रहे, और यदि तत्त्वमें रमणता हो जाय तो यह दुःख हो ही नहीं। इसप्रकार तत्त्वनिर्णय यह सुखकी प्राप्तिका मूल है।

किसीसे यह पूछनेकी आवश्यकता नहीं है कि तुमको सुख प्रिय है या नहीं ? प्राणी प्रत्येक कार्यमें सुखके लिये ही दौड़ता है। स्वर्गके देव या नरकके नारकी, तिर्यञ्च या मनुष्य, त्यागी या गृहस्थ ये सब सुखके लिये ही आतुर रहते हैं, किन्तु यह सुख कैसे मिलता है, क्या यह सुख बाहरसे पैसा इत्यादिमेंसे आता होगा ? नहीं; वह सुख रागद्वेषरूप भावकर्मके नाश करने पर प्रगट होता है, भावकर्मके नाश कर देनेपर आठों प्रकारके द्रव्यकर्मका नाश होजाता है। और सब कर्मोंका नाश होनेपर स्वतंत्र सुख प्रगट होता है।

सुख बाहरसे नहीं आता किन्तु भीतरसे ही प्रगट होता है। बाहर सुख कहाँ ? क्या शरीरके पिंडमें सुख है ? पैसेमें सुख है ? स्त्रीमें सुख है ? सुख है कहाँ ? बाह्यमें तो धूल–जड़ दिखाई देती है। क्या जड़में आत्माका सुख हो सकता है ? कदापि नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञानी जीवने परवस्तुओंमें सुखकी मिथ्या

कल्पना कर रखी है। यद्यपि परवस्तुओंमें सुख नहीं है, कभी परवस्तुमें सुख देखा भी नहीं गया, फिर भी मूढ़ताके कारण वैसी कल्पना करली है। अयथार्थको यथार्थ मान लेनेसे परि-भ्रमणका दुःख दूर नहीं होसकता। अज्ञानीको सुखस्वभावकी खबर नहीं है, इसलिए वह स्वभावसे विरुद्ध भाव कर रहा है और इसलिए आठ कर्मोंका बन्ध होता है, तथा आकुलताका भोग किया करता है। यदि वह स्वभावका भान करले और स्वभावसे विरुद्ध जो रागद्वेषके भाव हैं उनका नाश करे तो सब कर्म दूर हो जांय और दुःख मिटकर सुख हो जाय।

जो परसे सुख प्राप्त करना चाहता है वह मूढ़ है। यह मानना मूढ़ता है कि जगतमें मेरा आदर हो तो मुझे सुख हो। परके द्वारा मान–अपमानसे कहीं आत्माको शान्ति थोड़ी ही होने वाली है ? राजा इत्यादिकको बहुतसे आदमी राज दरबारमें खमा खमा (मुजरा देकर) करते हैं, किन्तु आँख बन्द (मृत्यु) होनेपर उसमेंसे क्या साथमें रहता है ? क्या इसमें सचमुच कहीं सुख है ? नहीं। सुख तो सर्व कर्मोंके नाशसे पैदा होता है। बाहरमें शक्ति बल लगानेसे वह प्रगट नहीं होता। ताला खोलनेके लिये शक्ति या बलकी आवश्यकता नहीं, हथोड़ेसे ताला नहीं खुलता किन्तु टूट जाता है और यदि युक्तिपूर्वक चाबी लगाई जाय तो वह सुगमतासे जल्दी खुल जाता है। इसीप्रकार आठ कर्मोंका नाश किये बिना अर्थात् विकारीभावोंका नाश किये बिना बाह्यके प्रयत्नसे सुख प्रगट नहीं होता। "सत्यको समझनेकी क्या आवश्यकता है, शरीरकी खूब क्रिया करो, उससे सुख प्रगट

हो जायगा"—इसप्रकारके व्यर्थ बलसे किसीका सुख प्रगट नहीं होगा।

जिसका जो स्वभाव हो उसे यदि वैसा ही समझे तो वह प्रगट होगा। जैसे यदि शिखरजी जाना हो तो शिखरजीका रास्ता जानना पड़ता है; किन्तु 'रास्ता जाननेकी क्या आवश्यकता है? यों ही क्यों न चल दिया जाय? इसप्रकार शिखरजी नहीं पहुँचा जा सकेगा; मार्ग भूलके दूसरी जगह पहुँच जायगा; यह तो एक दृष्टान्त है। इसीप्रकार यदि सुखका उपाय समझ लिया जाय तो सुख प्रगट हो, किन्तु सच्चा उपाय जाने बिना व्यर्थके जोरसे सुख प्रगट नहीं होगा। सुख कर्मोंके नाशसे प्रगट होता है। कर्मका नाश चारित्रसे—वीतरागदशासे होता है और चारित्रका अर्थ है अन्तरस्वरूपमें रमणता। वह सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञानसे प्रगट होती है, और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तत्त्वनिर्णयसे होता है। इसके सिवाय अन्य किसी भी प्रकारसे कभी भी सुख प्रगट नहीं होगा।

यदि कोई पूछे कि चारित्र क्या है? तो कहते हैं कि चारित्र बाह्यवस्तुमें नहीं है, उपकरण या वस्त्रादिमें नहीं है; किन्तु आत्मा अनन्त गुणोंका पिण्ड है, उसका ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थिर हो जाना वही चारित्र है। वह चारित्र तो मुनिदशामें होता है। पहले, अतिचार रहित आत्माकी श्रद्धा करनेके बाद ही स्वरूपरमणतारूप चारित्र होता है। आत्मा अनन्तगुणोंका निर्मल पिण्ड है। उसकी श्रद्धा और एकाग्रताके बलसे क्षणिक विकारका नाश होता है। किन्तु विकार मेरा स्वरूप है, इसप्रकार

विकारकी श्रद्धासे विकारका नाश नहीं होता। विकारका नाश करनेके लिये बल कहांसे आयेगा ? वह बल पर वस्तुमेंसे नहीं आता, विकारमेंसे नहीं आता और अवस्थाके भेदमेंसे भी नहीं आता। किन्तु दर्शन, ज्ञान, आनन्द इत्यादि अनन्त गुणोंसे अभेद स्वरूप जो वस्तु है (–जिसमें न तो पर है, न विकार है और न भेद है–) उसमेंसे बल मिलता है। उस वस्तुकी जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है।

यदि कोई पूछे कि सम्यग्दर्शनमे ऐसी क्या बात है कि सबसे पहले उसीकी बात कही जाती है ? तो उसका समाधान करते हुये बताते हैं कि इसका कारण यह है कि सम्यग्दर्शनका विषय सम्पूर्ण वस्तु है और उस वस्तुके बल पर ही चारित्र प्रगट होता है। शुद्ध निर्मल स्वरूपकी श्रद्धाके बलसे चारित्र प्रगट होता है और रागद्वेषका नाश होता है इसलिये पहले सम्यग्दर्शनकी बात कही गई है। सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता।

पहले सम्यग्दर्शन होनेपर तथा चारों अनुयोग द्वारा मोक्ष-मार्गमें प्रयोजनभूत वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होनेपर चारित्र प्रगट होता है। वे चार अनुयोग कौन कौनसे हैं ? यह बताते हैं:—

(१) कथानुयोग (प्रथमानुयोग)–इसमे तीर्थंकरादि महान पुरुषोंके पवित्र आचरण की व्याख्या (जीवनचरित्र) होती है।

(२) चरणानुयोग–इसमें रागको घटाने और परिणामोंकी

शुद्धि बढ़ानेके लिये निमित्तकी प्रधानतासे मोक्षमार्गके आचरणका कथन होता है।

(३) करणानुयोग—इसमें परिणामोंकी सूक्ष्म बात गणित के अनुसार होती है। गुणस्थान, मार्गणास्थान तथा त्रिलोक रचना आदिका वर्णन आता है।

(४) द्रव्यानुयोग—इसमें जीवादि तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय पूर्वक आत्मवस्तुकी व्याख्या मुख्यतासे होती है।

इन चारों अनुयोगोंके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत पदार्थोंका संशय, विपर्यय, अनध्यवसायादि रहित यथार्थज्ञान होने पर यथार्थ चारित्र होता है। यदि कोई प्रयोजनभूत वस्तु अर्थात् मुख्य वस्तुको न समझकर अन्य सब किया करे तो वह यथार्थ नहीं कहलायेगा। प्रयोजनभूत वस्तुको स्वीकार न करके अन्य वस्तुका स्वीकार करनेवालेका एक दृष्टान्त यहाँ दिया जाता है—

एक व्यापारीकी दुकानसे एक काश्तकारने पाँचसौ–सातसौ रुपयेका माल और कुछ नगद उधार लिया। बहुत समयके बाद वह अपना हिसाब मिलानेके लिए गया। व्यापारीने एकके बाद एक रकम सुनाना शुरु की, कि देखो भाई! इन दो नारियलोंके चार आना, बराबर है न? काश्तकारने कहा, हाँ जी बराबर है। इसके बाद काश्तकारने पावभर मिर्च, सवासेर तेल, ढाईसेर चांवल, और ऐसी ही अनेक छोटी २ वस्तुओंको स्वीकार किया। इसके बाद जब बड़ी रकम आई है कि २५०) नगद लिये थे; तब काश्तकारने उस मूल रकमको इन्कार किया कि अरे! मैंने

नगद रकम कब ली थी ? मुझे तो इसकी तनिक भी खबर नहीं है। इसप्रकार काश्तकारने छोटी छोटी वस्तुओंको स्वीकार करके मूल बड़ी रकम उड़ादी। व्यापारी समझ गया कि यह तो गजब हो गया। इसने तो मूल रकम ही उड़ादी अब वह ऋण-मुक्त कहांसे होगा? इसके बाद जब व्यापारीने उससे आगेका हिसाब सुनाना शुरु किया तो उस काश्तकारने पावभर हल्दी और ऐसी ही चार छह छोटी २ रकमें स्वीकार करलो; किन्तु जब फिर बड़ी रकम आई कि ५००) नगद, तब काश्तकार बोला कि अरे भाई ! मैं तो यह जानता ही नहीं। यहाँ ५००) देखे ही किसने ? इसप्रकार उसने मूल रकमको उड़ाकर शेष सब छोटी छोटी रकमोंको स्वीकार कर लिया। किन्तु यदि उसने मूल रकमको स्वीकार किया होता और छोटी छोटी दो चार रकमों को उड़ा दिया होता तब तो वह नफामें भी समा जाती, किन्तु जब उसने मूल रकमको ही उड़ा दिया तब उसका मेल कैसे बैठे ?

इसीप्रकार शास्त्रोंमें अन्यकी भक्ति करने की, दया पालने की और ऐसी ही दूसरी बातें आती हैं, उन्हें तो जीव स्वीकार कर लेता है कि हां महाराज ! यदि भक्ति वगैरह की जाय तो धर्म होता है; किन्तु अरे भैया ! उसमें धर्म होनेका कहा है किसने ? भक्तिसे धर्म होता है यह किसने कहा ? दूसरे की दया और भक्तिसे तो पुण्य होता है, धर्म नहीं होता। धर्म तो सम्यग्दर्शनादि से ही होता है, इसके बिना नहीं होता—जब ऐसी मुख्य बात आती है तब कहता है कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं बैठती। यों कहनेवाला उपर्युक्त दृष्टान्तके अनुसार प्रयोजनभूत मूल रकम

को उड़ा देता है। अरे भाई ! तू पुण्यकी रकमको कबूल करता है लेकिन तत्त्वका भी तो निर्णय कर, अन्यथा तेरा संसारका कर्ज अदा कैसे होगा ? तू कर्जके भारसे चौरासीके अवताररूपी जेलमें पड़ेगा।

बहुतसे जीव पुण्यकी बातको स्वीकार करते हैं, दयाकी बातको मंजूर करते है लेकिन जहां मूल रकम आती है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका व आत्माका यथार्थ भान हुये बिना धर्म नहीं हो सकता, वहां वे कह देते हैं कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं जमती। इसलिये यहां कहते हैं कि चारों अनुयोगोंके द्वारा मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वका संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदिसे रहित यथार्थ ज्ञान होने पर यथार्थ चारित्र होता है, और चारित्र दशामें आलस्य, मद इत्यादि सब दोष दूर होते हैं। आवश्यक रकमका संशय और विपरीतता रहित यथार्थ ज्ञान चाहिये, विपरीत होनेपर यथार्थ धर्मका लाभ नहीं हो सकता। इसलिये अनध्यवसाय (अनिर्णय) भी नहीं चल सकता। सच्चामार्ग तो यही है, इसके बिना तीन लोक और तीन कालमें मुक्ति नहीं हो सकती। यदि कोई यों कहे कि यह तो एक ही बात कह रहे हैं, तो भाई ! सत्यका मार्ग तो त्रिकालमें एक ही होता है।

आत्मा निर्मल है और रागद्वेष क्षणिक है, वह आत्माका स्वरूप नहीं हो सकता; आत्मा परका कुछ नहीं कर सकता। यह सुनकर कोई कहे कि हम तो अपनी आँखोंसे देख रहे हैं कि आत्मा शरीरकी क्रिया करता है, खाता है, बोलता है, चलता है,

फिर भी आप इन्कार कैसे करते हो ? उसके उत्तरमें कहा जाता है कि भाई ! तूने अपनी आँखोंसे क्या देखा ? शरीर चला—यह देखा किन्तु शरीर उसके कारणसे चलता है वहाँ तू अपने आप मान बैठा है कि मैंने उसे हिलाया; और फिर तू कहता है कि मैंने अपनी आँखोंसे देखा लेकिन यह सत्य नहीं, हाँ ! तूने 'बछड़ेके अण्डे' की तरह अपनी आँखोंसे देखा होगा। जैसे कोई कहे कि मैने अपनी आँखोंसे देखा है कि अण्डा फटकर उसमेंसे बछड़ा निकला, तो उसकी यह बात प्रत्यक्षमें ही असत्य सिद्ध है क्योंकि बछड़ेका अण्डा होता ही नहीं। उसने तूँबीको अण्डा मान लिया और उसके फूटनेकी आवाजसे पासमें ही एक खरगोशका बच्चा भागता हुआ दिखाई दिया। उसे देखकर मूर्ख यह मान बैठा कि अन्डेमेसे बछड़ा निकला; और फिर दावेके साथ कहता है कि मैंने अपनी आँखोंसे अन्डेमेसे बछड़ेको निकलते ही भागता हुआ देखा है। कैसा भ्रम !

इसीप्रकार, शरीरकी क्रिया जो शरीरके कारण होती है और आत्मा उसे जानता है, उसे बाह्यसंयोगकी ओरसे देखनेवाला अज्ञानी—यह मान बैठा है कि यह शरीरकी क्रिया आत्मासे हुई और मैंने उसे अपनी आँखों देखा। लेकिन अरे भाई ! आत्मा परका कुछ कर ही नहीं सकता तो फिर तूने अपनी आँखोंसे कहांसे देखा ? तेरी देखनेमें गलती है, तू संयोगको देखता है स्वभावको नहीं देखता, अतएव जबतक यह बात ठीक न जम जाय कि आत्मा परका कुछ कर ही नहीं सकता तब तक तू तत्सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करनेमें लगा रह। सर्वज्ञकी बातमें अन्तर नहीं पड़े

सकता। इसलिये जब तक सर्वज्ञके कथनानुसार तेरे ज्ञानमें बात न बैठ जाय तब तक श्रवण मनन करके ज्ञानप्राप्ति का प्रयत्न करता रह। बापदादाके लिखे हुये बहीखातेकी कोई बात यदि समझमें नहीं आती तो कहता है कि पिताजी तो बहुत हुशियार थे; उनकी भूल नहीं हो सकती, मेरी ही गलती होगी। इसप्रकार जबकि बापके बहीखातेमें शंका नहीं करता तब फिर जिनवाणी में विश्वास क्यों नहीं करता कि परमपिता सर्वज्ञदेवकी भूल नहीं हो सकती। सर्वज्ञभगवानके कथनानुसार प्रयोजनभूत रकमको सम्यक् श्रद्धा और सम्यग्ज्ञान होना चाहिये। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। और सम्यक्चारित्र होने पर कर्मोका नाश होता है। कर्मोका नाश होनेपर सर्व जीवोंको प्रिय ऐसा सुख प्रगट होता है, इसप्रकार सम्यग्दर्शन ही सुखकी नींव है।

कोई पूछे कि जिस सच्चे ज्ञानके होने पर आलस्य वगैरह समस्त दोष दूर हो जाते हैं वह सच्चा ज्ञान कैसे होता है? उसके समाधानके लिये कहते हैं कि सत् शास्त्रका श्रवण, धारण, विचार और अनुप्रेक्षापूर्वक अभ्यास करना चाहिये। सत् शास्त्र सुननेके साथ धारण होना चाहिए। जीवोंको सच्चा सुख चाहिये है और वह सुख सर्व कर्मोके नाश होनेपर प्रगट होता है। कर्मोका नाश चारित्र होने पर होता है और चारित्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानसे होता है, तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सत्‌शास्त्रोंके श्रवण, धारण करनेसे होता है।

इसमें धारण करनेकी मुख्यता है। यदि पूछा जाय कि भाई, सबेरे तुमने समयसारकी चर्चामें क्या सुना था तो उत्तर मिलता

है कि याद नहीं रहा, किन्तु ऐसे श्रवणसे काम नहीं चलेगा। संसार–व्यवहारमें यदि किसीसे कुछ ऋण लेना बाकी हो तो वह उसे बराबर याद रखता है, उस कर्जदारको देखते ही याद आ जाता है कि इससे इतना कर्ज लेना बाकी है। जिसप्रकार ऋण सम्बन्धी धारणा बना रखी है उसीप्रकार मुमुक्षु जीव सत् शास्त्रको यथार्थरीत्या धारण करे, और धारण करनेके बाद उसपर विचार करना चाहिए, तत्पश्चात् आम्नाय अर्थात् उसे दूसरे आगमोंसे मिलान करना चाहिये; और आत्मा शुद्ध है, आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, आत्माके गुण इसप्रकार हैं, उसकी निर्मल स्पष्ट ज्योति ऐसी है, इत्यादि अनुप्रेक्षापूर्वक बारम्बार चिन्तवन करना चाहिये। शास्त्रसभामें जाकर घन्टे दो घण्टे तक धर्मकी बातें सुनते हैं और फिर घर जाकर विकथाओंमें लग जाते है यह अनु-प्रेक्षा नहीं कही जा सकती। यहाँ पर धारणा और अनुप्रेक्षा दोनों का प्रयोग किया गया है, इसमें धारणाका अर्थ वर्तमानमें सुनते समय याद रखना है और अनुप्रेक्षाका अर्थ है याद रखी हुई बातका बादमें बारम्बार विचार करना।

समस्त कल्याणका मूल कारण आगमका यथार्थ निर्णय है। भगवान के द्वारा प्ररूपित परमागम शास्त्रोंका मात्र अभ्यास नहीं किन्तु यथार्थ अभ्यास करना चाहिए। यथार्थ अभ्यासका अर्थ है शास्त्रोंके कथनानुसार ठीक ठीक आशयको समझना। किन्तु अपनी अनुकूलताके अनुसार किसीभी अर्थको बिठा लेना यथार्थ अभ्यास नहीं कहा जा सकता।

अब कहते हैं कि–आगमके यथार्थ अभ्यासका अवसर दुर्लभ

है। भाई ! इस संसारका परिभ्रमण आजकलका नहीं है किन्तु अनादिकालीन है। इसमें जगतकी वकालत वगैरहका अभ्यास करते करते दम निकल गया, उसमें शास्त्राभ्यासका अवसर मिलना दुर्लभ है। अनादि कालसे तेरा अधिकाँश समय तो एकेन्द्रिय पर्यायमें चला गया। त्रसकी स्थिति मात्र दो हजार सागरकी है। एकेन्द्रियके कालको देखते हुये त्रसका काल अत्यन्त अल्प है। मनुष्य पर्याय पाकर भी यदि आत्माका भान नहीं किया तो त्रसपर्यायका समय समाप्त होते ही फिर जीव एकेन्द्रियमें जायगा। एकेन्द्रिय पर्यायमें जन्म–मरण करके जीवने अनन्त दुःख पाया है। यह मनुष्यत्व अत्यन्त दुर्लभ है। एकेन्द्रिय पर्यायमें मात्र स्पर्शनइन्द्रियसम्बन्धी किंचित् ज्ञान होता है, वहाँ अनन्त दुःख है। किसी छोटे राजकुंवर को खूब शृंगार करके विश्वके किसी सबसे बड़े कारखानेकी अग्निकी भट्टीमें डालकर यदि जीवित जला दिया जाय और उसे उस समय जो पीड़ा हो उससे भी अनन्तगुणी वेदना एकेन्द्रिय दशामें प्रत्येक जीव अनन्तबार भोग चुका है।

उसके बाद दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, और असैनी पंचेन्द्रिय प्राणियोंको भी तत्त्वविचार करनेकी शक्ति नहीं है। वहां पर सुख दुःखके अनुभव हैं किंतु विचारकी शक्ति नहीं है। असैनी पंचेन्द्रिय तक तो विचार करनेका अवसर ही नहीं है, वे सब मन रहित हैं। अब मन वाले प्राणियोंका विचार करें। उनमेंसे नरकगतिमें तो शास्त्राभ्यास होनेका योग ही नहीं हैं। किसी जीवने पहले सत्समागम किया हो और उसकी वासना

कदाचित् रह गई हो तो वहाँ पर किसी जीवको आत्माका अन्तरंग विचार हो सकता है, किन्तु वहाँ शास्त्राभ्यासका अवसर तो मिल ही नहीं सकता। देवगतिमें जो नीची जातिके देव हैं वे तो बहुधा विषयसामग्रीमें ही अत्यन्त आसक्त रहते हैं। वे उसमे इसप्रकार लीन हैं कि उन्हें धर्म वासना ही नहीं होती, इसलिये उन्हें भी शास्त्राभ्यासका अवसर प्राप्त नहीं है। उच्च पदवाले देवोंमेंसे किसी किसीके धर्मकी विचारणा होती है, किन्तु विशेषतया उनने मनुष्यभवमें शास्त्राभ्यास आदि किया होता है। उस मनुष्यभवमें की गई धर्मसाधनाकी योग्यतासे उच्च पद-वाले देव होते हैं।

असंख्यात जीवोंमेंसे कोई जीव बड़ा देव होता है उसे ऐसा लगता है कि अरे रे ! मनुष्यभवमें मेरी साधना अधूरी रह गई इसलिये यह अवतार हुआ; इसप्रकार उसके धर्मवासना उत्पन्न होती है। विशेषतया तो मनुष्यभवमें ही धर्मसंस्कार प्राप्त होता है। वहाँ पर 'विशेषतया' शब्दका प्रयोग किया गया है, क्योंकि तीर्थंकरकी सभामें कोई पशु वगैरह भी धर्मोपदेश सुनकर आत्मज्ञान कर लेता है; किन्तु उसकी यहाँ पर मुख्यता नहीं है, इसलिये 'विशेषतया मनुष्यभवमे' इसप्रकारका भाषा-प्रयोग किया गया है।

मनुष्यपर्यायमें भी अनेक जीवोंकी आयु अत्यन्त अल्प होती है, उन जीवोंके पर्याप्तिकी पूर्णता ही नहीं होती, शरीरकी रचना ही पूर्ण नहीं हो पाती, वे माताके उदरमें ही मर जाते हैं। जिनके आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और

मन इन छह प्रकारकी पर्याप्तियोंकी पूर्णता नहीं है ऐसे जीवोंको सत् शास्त्र सुननेका योग नहीं मिलता। और कदाचित् छह पर्याप्तियोंकी पूर्णता हो जाय, किन्तु वे अल्पायु हों तो वे बाल्य अवस्थामें ही मर जाते हैं। कदाचित् अधिक आयु मिली तो शूद्र इत्यादिक नीच कुलमें जन्म हुआ, और यदि अच्छा कुल मिला तो इन्द्रियोंकी पूर्णता दुर्लभ हो गई, इन्द्रियोंकी पूर्णता हुई तो निरोग शरीर मिलना दुर्लभ है, और यदि वह भी मिल गया तो जहाँ सत् शास्त्र आदिकका योग है, उस ग्राममें जन्म होना दुर्लभ है, और यदि ऐसे स्थानमें जन्म हुआ तो भी जीवके धर्मवासना उत्पन्न होना दुर्लभ है। और यदि किसी जीवके धर्म-वासना उत्पन्न हुई तो वहाँ भी सच्चे देव, गुरुका समागम पाना दुर्लभ है। यदि कुदेव, कुगुरुके समागममें लग गया तो मनुष्य भव ही बर्बाद हो जायगा, सच्चे देव–गुरुका समागम मिलना महान् दुर्लभ है। यदि दैवयोगसे किसीको सच्चे देव–गुरुका योग भी मिल गया तो वह पुण्यकी बाह्य क्रियामें लग गया, वह यह मान बैठता है कि अनेकविध पुण्यकी क्रियाके शुभरागसे ही धर्म होगा; इसप्रकार वह व्यवहारधर्ममें रत हो जाता है। सच्चेदेव–गुरुका संयोग प्राप्त करके भी अनेक जीव सच्चा तत्त्व-निर्णय न करके शुभरागकी बाह्य क्रियाओंमें लगे रहते हैं और उसीमें धर्म मान बैठते हैं; इसप्रकार तत्त्व एक तरफ रह जाता है।

शास्त्रमें पाप करनेकी बात तो हो ही नहीं सकती, किन्तु अशुभभावको छुड़ानेके लिये शुभभावका कथन आता है, वहाँ यह जीव शुभमें ही संतोष मानकर उसको ही पकड़ बैठता है।

किन्तु तत्त्वका यथार्थ निर्णय किये बिना जन्म मरणका अन्त नहीं हो सकता। कोई जीव तत्त्वका निर्णय तो करे नहीं और व्यवहारकी वासनासे उसे फुरसत न मिले तो ऐसे धर्म नहीं होता। वह यह कहे कि इस धर्मचर्चाको समझनेका काम क्या है ? हमें समझ समझके आखिर करना तो यही है न ? किन्तु भाई, करना तो अन्तरंगमें कुछ और ही है। पहले तू वस्तुको तो समझ। वस्तुतत्त्वको समझ लेनेके बाद मालूम होगा कि तुझे क्या करना है।

कोई यह कहे कि केवली होने पर ही यह समझा जा सकता है, अभी हम यह कैसे समझ सकते हैं ? अभी तो मात्र क्रिया करना है। यों माननेवाला कभी केवली तो नहीं होगा किन्तु तत्त्वकी अरुचिसे केवल एक इन्द्रियवाला (निगोदिया) हो जायगा। व्यवहारधर्मका अर्थ क्या है ? यही कि मात्र वर्तमानमें रागका मन्द भाव, उससे आत्माके जन्ममरणका अन्त नहीं हो सकता। कदाचित् किसी जीवको सच्चे देव गुरुका संयोग मिल जाय और पूजा, दान, शील, व्रत, संयम इत्यादि व्यवहारधर्मकी वासना उत्पन्न भले ही हो जाय; किन्तु जिससे अनादिकालीन मिथ्यात्वरोग दूर होता है, विपरीत मान्यतारूपी क्षयरोग नष्ट होता है, ऐसे कारणोंका (सम्यग्दर्शनादिका) मिलना तो उत्तरोत्तर महा दुर्लभ है। इस हीन कालमें जैनधर्म का यथार्थ ज्ञान और श्रद्धानपूर्वक चारित्रधर्म बहुत कठिन है, जबकि यह बात है तब जीवोंको क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं।

तत्त्वका निर्णय करना भी एक धर्म है और उसका फल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है। जैनधर्मानुसार यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान चारित्रका होना दुर्लभ है, फिर भी तत्त्वनिर्णयरूप धर्म तो बालक भी कर सकता है, आठ वर्षकी बालिका हो या कोई वृद्ध पुरुष, प्रत्येक तत्त्वनिर्णय कर सकता है। वृद्ध तो शरीर होता है; शरीरके वृद्ध होनेसे आत्मामेंसे तत्त्वनिर्णय करनेकी शक्ति नहीं चली जाती। बाल, वृद्ध, रोगी, निरोगी, धनवान, निर्धन, सुक्षेत्री-कुक्षेत्री इत्यादि कोई भी जीव यदि चाहे तो तत्त्वनिर्णय कर सकता है। तत्त्वनिर्णय भी धर्म है। धर्ममें रोटीके साधन की आवश्यकता नहीं होती, यदि रोटीकी परिपूर्णता होनेपर ही धर्म होता हो तब तो धर्म पराधीन बन जायगा, धर्मका ऐसा स्वरूप नहीं है। चाहे जो व्यक्ति, धर्मका निर्णय कर सकता है। सुक्षेत्र या कुक्षेत्र इत्यादि किसी भी परिस्थितिमें तत्त्वनिर्णय प्राप्त किया जा सकता है।

इसप्रकार यहाँ यह बताया गया है कि किसके तत्त्वनिर्णय हो सकता है और किसके नहीं। अब आगे यह बताया जायगा कि जिसके तत्त्वनिर्णय हो सकता है उसे तत्त्वनिर्णय करनेके लिए क्या करना चाहिये।

प्रवचन : २

तत्त्वनिर्णय करनेकी प्रेरणा

卐

'जो पुरुष अपने हितका वांछक है उसे सर्व प्रथम यह तत्त्व निर्णयरूप कार्य ही करना चाहिये।' यह आत्मा अनादि-कालसे संसार परिभ्रमण कर रहा है, उसमें उसने इस तत्त्वका यथार्थ निर्णय एक क्षणभरके लिये भी नहीं किया कि वीतराग भगवान क्या कहते हैं। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना यह जीव अनन्त बार पूजा, दान, शील और महाव्रत इत्यादि कर चुका है। किन्तु सच्ची समझके बिना इसे अभीतक यथार्थ सुख प्राप्त नहीं हुआ और परिभ्रमणका दुःख दूर नहीं हुआ।

सुख तो प्रत्येक जीवको प्रिय है किन्तु कर्मका नाश हुये बिना सुख प्रगट नहीं होता, वीतरागताके बिना कर्मका नाश नहीं होता, चारित्रके बिना वीतरागता नहीं होती, सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना चारित्र नहीं होता, तत्त्वका निर्णय हुये बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान नहीं होता और सर्वज्ञकथित आगमके ज्ञानके बिना तत्त्वका निर्णय नहीं होता। उस तत्त्व-निर्णयरूप आगमका ज्ञान करनेकी योग्यता एक इन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके जीवोंमें नहीं

है। क्योंकि उनके तत्त्व-विचारकी ही शक्ति नहीं है। मनुष्य-भवमें भी यथार्थ श्रद्धानादि होना कठिन है। श्रद्धानादिका अर्थ है सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र, इन तीनोंका होना कठिन है; तो भी सम्यक्भान आठ वर्षका बालक या रोगी-निरोगी सभी मनुष्य कर सकते हैं यह बात कही जा चुकी है। सुखकी चाहना-वाले जीवोंको यही कार्य करना चाहिए।

वीतरागदेवने क्या कहा है इस तत्त्वका निर्णय किये बिना जीव मुक्ति मार्गसे उल्टे मार्गमें दौड़ लगा रहा है। वह इस बातका निर्णय नहीं करता कि उसने स्वयं क्या माना है और जिसे वह गुरु मान रहा है वे क्या कहते हैं और वीतरागका मार्ग क्या है? वीतरागका मार्ग तो त्रिकालमें एक ही होता है। सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहे गये तत्त्वनिर्णयके बिना कदाचित् दया दानादिकमें कषायको मन्द करे तो शुभ भावका पुण्य भले बांध ले, किन्तु उसमें धर्म तो किंचित् मात्र नहीं होगा। जैसा वीतराग भगवानने कहा है उसे समझकर उसमें स्थिर होना यही एक ही प्रकारका धर्ममार्ग है, इसलिये सर्व प्रथम तत्त्वनिर्णयरूप सम्यग्दर्शन प्राप्त करना ही योग्य है। इस जीवने सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना सेवा की, अनुकम्पा की और करोड़ों रुपया दानमें दिये किन्तु वह यह नहीं समझ पाया कि आत्माका स्वरूप क्या है। भगवानके नाम पर बड़े २ दान दिये किन्तु वह यह नहीं समझ सका कि भगवानने क्या कहा है? इसलिये उसे धर्म नहीं प्राप्त हुआ। धर्मका मार्ग अपूर्व है, उसे यह जीव पहले कभी नहीं समझा। करोड़ोंमें कोई एकाध जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है, किन्तु जो जो तत्त्वनिर्णय

करना चाहें वे सब निर्णय कर सकते हैं। और यह तत्वनिर्णय करनेसे ही मुक्तिका मार्ग हाथ लगेगा।

शरीरकी क्रिया अथवा रुपया पैसा वगैरहसे धर्म तो क्या, किन्तु पुण्य भी नहीं होता। रुपये पैसे की यदि तृष्णा घटाई जाय तो पुण्य होता है किन्तु धर्म नहीं होता, जन्म-मरणका अन्त नहीं होता। सच्चे देव, शास्त्र और गुरुके निर्णयके बिना और भगवान आत्माका अर्थात् अपना स्वरूप क्या है इसका निर्णय हुये बिना तीनकाल और तीन लोकमें न तो किसी जीवकी मुक्ति हुई है, न होती है और न होगी। इसलिये जो जीव अपना हित करना चाहता है उसे सर्व प्रथम यह तत्वनिर्णयरूप कार्य करना चाहिये।

अब यहाँ कहते हैं कि तत्वनिर्णय करनेमें कोई हानि नहीं है:—

न क्लेशो न धनव्ययो न गमनं देशान्तरे प्रार्थना
केषांचिन्न बलक्षयो न न भयं पीड़ा परस्यापि न।
सावद्यं न न रोग जन्मपतनं नैवान्य सेवा न हि
चिद्रूपस्मरणे फलं बहु कथं तन्नाद्रियंते बुधाः ॥१॥

(तत्त्वज्ञानतरंगिणी अध्याय ४)

इस देहरूपी देवालयमें चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा सिद्धसमान चैतन्यमूर्ति है; उस आत्माके निर्णय करनेमें-स्मरण करनेमें क्लेश नहीं होता, धनकी आवश्यकता नहीं होती और धन खर्च नहीं करना पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं समझ

लेना चाहिये कि धनकी तीव्र तृष्णा रखकर आत्माका निर्णय हो जायगा। धनकी तृष्णाको तो पात्र जीव कम करता ही है। देव–गुरु–शास्त्रकी प्रभावना–पूजनादि सत्कार्योंमें वह अपनी लक्ष्मीको लगाता है। किन्तु धनकी तृष्णा कम करनेसे पुण्य होता है, धर्म नहीं। आत्माको पहिचाननेके लिये धनका खर्च नहीं करना पड़ता, अर्थात् धनका खर्च करनेसे आत्माकी पहिचान नहीं होती; वह तो तत्त्वनिर्णय से ही होती है।

पैसा खर्च करके धर्म माननेवालेसे कहते हैं कि भाई! धन खर्च करके उसमें धर्म मनवानेवाले कुगुरु तो तुझे अनन्तबार मिले और तूने भी उसमें धर्म मान लिया किन्तु उसमें धर्मका होना अशक्य है। आत्माको पहिचाने बिना किसीको भी तीन-काल और तीन लोकमें धर्म नहीं हो सकता। आत्माको पहिचानने के लिये न तो देशान्तर जाना पड़ता है और न किसीकी प्रार्थना भी करनी होती है।

प्रश्नः—भगवानकी प्रार्थना भक्ति तो करना चाहिये न?

उत्तरः—मुमुक्षुको वीतराग भगवानका बहुमान आता है और प्रार्थना–पूजा करता है; उसमें पुण्य है। किन्तु तीर्थंकर भी किसीको मोक्ष नहीं दे सकते। भगवानका बल भगवानके पास होता है वह किसी दूसरोंको काम नहीं आ सकता। भगवानने सत्यमार्ग बताया है, जो जीव उसे समझ लेता है उसकी मुक्ति होती है। जो सच्चे मार्गको समझता है उसको निमित्तरूप भगवानके प्रति बहुमान होता है–किन्तु भगवान किसीको समझा नहीं देते। जीव अपनी योग्यताके बलसे ही समझता है। और

आत्माका निर्णय करनेमें शक्तिका क्षय नहीं होता, प्रत्युत आत्माकी पहिचानसे तो गुणकी वृद्धि होती है, निर्मल दशा प्रगट होती है। और वह सावद्य नहीं है अर्थात् आत्माकी पहिचान करनेमें किसीकी हिंसा नहीं होती, और उसमें न तो रोग है और न जन्म-मरण। आत्मस्वरूपकी पहिचान करनेके लिये किसीसे दीनता भी नहीं करनी पड़ती; इसप्रकार आत्माकी पहिचान करनेमें कोई कठिनाई नहीं है और उसकी पहिचान करनेका बहुत बड़ा फल है। तब फिर हे सयाने पुरुषों! उसे क्यों नहीं स्वीकार करते? उसको आदरपूर्वक क्यों नहीं अंगीकार करते हो?

परसे विलकुल भिन्न भगवान आत्मा अनन्त गुणोंसे युक्त विराज रहा है किन्तु उसको अपनी पहिचान अनन्तकालसे नहीं है। उसकी पहिचान करनेका बहुत बड़ा फल है, तब फिर बुद्धिमान पुरुष ऐसे तत्त्वज्ञानका उद्यम क्यों नहीं करते? इस जीवने अनन्तकालमें सत्समागमसे आत्मतत्त्वकी रुचि ही नहीं की। इसलिये इसकी प्रेरणा करते हैं। ऐसा नहीं कि जगतमें सबकी सेवा करनेसे और सबको अच्छा मनानेसे धर्म हो जायगा। जो समस्त धर्मोको एक मानकर जैनधर्मका अन्य धर्मोके साथ समन्वय करना चाहते हैं उसको वीतरागदेवके कहे हुये तत्त्वका निर्णय ही नहीं है। क्या अमृतके साथ विष का समन्वय हो सकता है? कभी नहीं। जो तत्त्वनिर्णय नहीं करता उसको आत्माका कल्याण कभी नहीं हो सकता और उसका परिभ्रमण नहीं मिटता। इसलिये जो तत्त्वनिर्णयका अवसर पाकरके भी तत्त्वनिर्णय नहीं करता उसे उलाहना देते हुये कहते हैं कि:—

साहीणे गुरुजोगे ण सुणंतीह धम्मवयणाई ।
ते धिट्ठ दुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहूणा ।।

जिसको सत्समागम–सद्गुरुओंका योग मिलता है फिर भी जो धर्मवचनोंको नहीं सुनते, तत्वनिर्णय नहीं करते वे दुष्ट और ढीठ मनवाले मूर्ख हैं । अरे जीव ! अनन्तकालमें यह नरभव मिला, फिर भी चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की पहिचान नहीं करता, तब तेरा अवतार कहाँ होगा ? तुझे कहाँ शरण मिलेगी ? जो यह निर्णय नहीं करता कि आत्मा देह, मन और वाणीसे भिन्न है और सत्समागम मिलने पर जिसे सुननेकी भी फुरसत नहीं मिलती वह दुर्बुद्धि है, उसको अपनी ही दरकार नहीं है । जो भगवानके मार्गको नहीं समझते वे भवभयसे रहित सुभट हैं । त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान भी संसारसे भयभीत हुये और स्व–स्वरूपका भान करके संसारसे दूर सुदूर भागे; जिस संसारसे भगवान भी डरे उस संसारके भयसे न डरनेवालेको बड़ा सुभट कह करके शास्त्रकारने उपहास किया है ।

जो वीतरागदेव उसी भवसे मोक्ष जानेवाले हैं किन्तु अभी राजपाटमें लगे हुये हैं, उन्हें वहाँ यह भान तो है कि यह राग मेरा स्वरूप नहीं, फिर भी वे विचार करते हैं कि अहो ! जबतक स्वरूपमें स्थिर हो करके मैं इस रागको नहीं छोडूंगा तब तक वीतरागता नहीं आयेगी । यों विचार करके वे भी संसारसे (रागद्वेषसे) हट गये और स्वरूपमें स्थिर हो गये–स्वरूपमें समा गये । जिन्हें इस संसारसे भय नहीं लगता वे

विपरीततामें महा सुभट हैं; वे संसारकी होली जलानेके लिये हमेशा तैयार रहते हैं, किन्तु तत्वज्ञानका अभ्यास नहीं करते। लौकिक पढ़ाईमें तो कई वर्ष व्यतीत कर देते हैं किन्तु आत्माको समझे बिना वह पढ़ाई किस कामकी ? आत्माकी पढ़ाईके सिवाय अन्य विद्या वास्तवमें विद्या ही नहीं है। आत्माकी पहि-चानके बिना सारा समय दूसरोंकी पंचायतमें और रागद्वेषरूप होलीमें ही चला गया, किंतु जीव यह निर्णय नहीं करता कि वीतराग भगवानने क्या कहा है ? अरे जीव ! आत्माकी पहचा-नके बिना तू मरकर कहाँ जायगा ? ज्ञानी व्यवहारधर्ममें लीन नहीं होता, स्वरूपकी अस्थिरता है इसलिये दया–व्रत–पूजा इत्यादिके शुभभाव आजाते हैं। जो आत्माकी दरकार नहीं करते और वकालत, व्यापार, खान-पान इत्यादिमें लगा रहता है वह 'अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि' है। वह दो प्रकारसे पापी है, एक तो विषय कषायादिके अशुभभावका पाप और दूसरा बड़ा पाप मिथ्यात्वका।

यदि कोई जीव सम्यग्दर्शनके बिना व्रत, तप, भगवानकी भक्ति, पूजा, दान, साधर्मीवात्सल्य इत्यादि किया करे तो उसमें पुण्य है, धर्म नहीं। यदि पूजा दान इत्यादिमें रागको घटाये तो पुण्य होगा, किंतु धर्म नहीं होगा। उससे जन्म–मरणका अंत नहीं होगा, भवका नाश नहीं होगा, वह पंचमगुणस्थानी श्रावक नहीं कहलायेगा; आत्मभानके बिना व्रत, तप, पूजा, भक्ति सब कुछ करे तो भी वह मोक्षमार्ग नहीं है, परमार्थ जैन वह नहीं है।

प्रश्न—अरे ! उसे जैनमेसे भी अलग कर दिया ?

उत्तर—जैन तो उसे कहते हैं जो सम्यक्त्वादिके द्वारा

मिथ्यात्वादि मोह शत्रुको जीतें; अथवा जिनदेवके कहे हुए मार्गकी जो सम्यक् उपासना करे वही सच्चा जैन है। यह जैनमेंसे अलग करनेकी बात नहीं है किन्तु अजैनमेंसे सच्चा जैन बनानेकी बात है।

जो पहले कहा है वह अशुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि है और दूसरा शुभोपयोगी मिथ्यादृष्टि। वह व्रत करता है, उपवास करता है, भगवानकी व मुनिवरोंकी पूजा–भक्ति करता है, दान करता है– इन सब कार्योंमें मंद राग करके पुण्य बंध करता है; किन्तु 'मैं कौन हूँ' इस वस्तुका निर्णय नहीं करता, और आत्माके निर्णयके बिना व्रत, तप, संयम, नियम इत्यादि अनेक प्रकारकी शुभभावकी क्रियाको ही धर्म समझ बैठता है। वह पुण्यमें मग्न है–व्यवहारमें लीन है, उसे भगवानने धर्मी नहीं कहा है।

प्रश्न—आप तो ऐसी बात कहते हैं जिससे झगड़ा खड़ा हो जाय ?

उत्तर—यह ऐसी बात नहीं है जिसमें झगड़ा खड़ा हो जाय किन्तु यह तो झगड़े टालनेकी बात है। यदि कोई इस बातको समझ ले तो एक भी झगड़ा न रहे। झगड़ा तो अनसमझसे होता है। सच्ची समझमें कोई झगड़ा नहीं है।

जिसे सारा संसार माने वही मार्ग सच्चा हो ऐसा नियम नहीं है; किन्तु वीतरागदेवने जो मार्ग कहा है इसे यथार्थ समझ लेना ही सच्चा मार्ग है। आत्माको पहिचाने बिना यदि कोई व्रत तप, दान; इत्यादि शुभराग करे और उसमें धर्म माने तो उसके शुभभावके साथ मिथ्यात्व भी है। धर्म उसको नहीं है।

भगवान आत्मा देह, मन, वाणीकी क्रियासे रहित, चिदानंदस्वरूप है, परका अकर्ता है, पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है; ऐसे आत्माके भान बिना जो व्यवहारधर्मक्रियामें-शुभक्रियामें लीन है वह भगवानके मार्गको नहीं जानता। उसके परिणाममें वर्तमान कुछ शुभभाव है, किन्तु शुभभाव करते करते मिथ्यादृष्टिपना तीनकालमें भी नहीं टल सकता। प्रत्युत शुभ करते २ उसे लाभकारक माननेसे मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है। शुभभाव राग है, राग करते २ अरागी स्वभावकी दृष्टि तीनकालमें प्रगट नहीं होती। पुण्य करते करते न तो धर्म होता है और न सम्यक्त्व ही प्रगट होता है। लोगोंको इस बातका हृदयमें उतारना मुश्किल लगता है किन्तु जिन्हें जन्म-मरणका अंत करना है उन्हें इसबातको हृदयमें उतारे विना दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

जो जीव भगवानके द्वारा कथित आत्मस्वरूपको पहिचान नहीं करता और यह निर्णय नहीं करता कि मेरा स्वभाव निःशंक भवके भावसे रहित तथा भवसे भी रहित है, तबतक वह यदि देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति, पूजन, तप, व्रत, दान इत्यादि सब कुछ करता रहे तो भी उसमे मात्र पुण्य है। जो भगवानके द्वारा कहे गये परिपूर्ण स्वभावकी श्रद्धा करता है वही सच्चा धर्मात्मा है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि तुमने महाभाग्यसे यह मनुष्य देह पाया है इसलिये वीतराग प्ररूपित धर्मको पहचानों। वीतराग मार्गमें सर्व धर्मका (आत्माके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र आदि सभी धर्मका) पहला मूल सम्यग्दर्शन है, और उसका भी मूल तत्त्वनिर्णय है, तथा तत्त्वनिर्णयका मूल शास्त्राभ्यास है; उसे अवश्य करना

चाहिये। जो शुभ वृत्ति उत्पन्न होती है वह आस्रवतत्त्व है—वह संवरतत्त्वका स्वरूप नहीं है। तब फिर संवरतत्त्वका या धर्मका स्वरूप क्या है ? इसका निर्णय करनेके लिये जिनकथित शास्त्राभ्यास करना चाहिये। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना लोग कहते हैं कि "भगवानने घोर तपस्या की थी, किन्तु तपस्याका सच्चा स्वरूप वह नहीं जानते। क्या भगवानकी तपस्या दुःख था ? क्या धर्म कष्टदायक होता है ? नहीं। भगवानके अंतस्वंरूपको जो नहीं जानते वह उनकी तपस्याका स्वरूप कैसे जान सके ? भगवान तो चिदानंदतत्त्वके अनुभवकी लहरमें थे, स्वरूपके अपूर्व आनन्दमें लीन थे। अंतरस्वरूपकी लीनतामें आहार इत्यादिक सहज ही छूट गये थे। ऐसी तपस्या भगवानकी थी, उसमें दुःख नहीं था किन्तु आनंद ही आनंद था। तत्त्वका स्वरूप समझे बिना चाहे जिसकी हाँमें हाँ मिला देना—यह बात पात्र जीवके लिये शोभास्पद नहीं है। अरे ! तत्त्वनिर्णयका ऐसा सुअवसर मिला है उसे जो व्यर्थ गँवा देता है और तत्त्वनिर्णय नहीं करता उस पर दया करके आचार्य महाराज कहते हैं कि—

प्रज्ञैव दुर्लभा सुष्ठु दुर्लभा सान्यजन्मने।
तां प्राप्य ये प्रमाद्यन्ति ते शोच्याः खलु धीमताम् ॥१४॥

आत्मानुशासन

पहले तो इस जगतमें बुद्धिका होना ही दुर्लभ है और फिर उसमें भी परलोकके लिये बुद्धिका होना तो और भी अधिक दुर्लभ है। जो मनुष्य हुआ उसको बुद्धि तो मिली है, किन्तु उसमें भी वीतराग भगवानके द्वारा कहे गये मार्गका यथार्थ श्रवण

दुर्लभ है। हे भाई! एकबार तू प्रेमसे वीतरागका मार्ग सुन तो सही, यह मार्ग अपूर्व है। पहले कभी ऐसा मार्ग नहीं जाना था। अब यह अवसर मिलने पर भी जो इसे व्यर्थ ही गँवा देता है उस पर ज्ञानियोंको करुणा आती है।

सच्चा जैन किसे कहा जाय? जो यह मानते हैं कि जैन व अन्य सभी धर्म समान हैं, वे तो व्यवहार जैन भी नहीं हैं। जैनधर्म तो आत्माका स्वरूप है, विश्वदर्शन है, उसका स्वरूप तीनकाल और तीनलोकमें भी नहीं बदल सकता, और दूसरोंके साथ उसका मिलान नहीं हो सकता। जिसने छह द्रव्यों (छह द्रव्यों- में अपना आत्मा भी आ जाता है) उसको जान लिया है और जो रागद्वेषको दूर करते हैं वे ही आत्मा सच्चे जैन हैं। सच्चा जैनी होनेके लिये सर्व प्रथम आगम द्वारा तत्त्वका निर्णय करना चाहिए। जो तत्त्वका निर्णय नहीं करते वे सच्चे जैन नहीं हैं। जो तत्त्वका निर्णय नहीं करता और पूजा, स्तोत्र, दर्शन, त्याग, तप, वैराग्य, संयम, संतोष, इत्यादि सब व्यवहार कार्य किया करता है उसके यह सब कार्य मोक्षके लिये व्यर्थ हैं। इसी शास्त्र (सत्तास्वरूप) में आगे कहा है कि—जो सर्वज्ञ की सत्ताका निश्चय नहीं करता और कुछ परम्परासे, पंचायतके आश्रयसे, अथवा मिथ्या धर्मबुद्धिसे, दर्शन पूजनादिरूप प्रवृत्ति करता है अथवा जो मतपक्षके हठाग्रहके कारण दूसरों (देवी देवताओं) को न भी माने और मात्र उसका (अपने माने हुये जिनदेवा- दिकका) ही सेवक बना रहे उसे भी अपने आत्मकल्याणरूप कार्यकी सिद्धि नहीं होती। इसलिये वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है; जब कि वह सर्वज्ञको सत्ताका ही निश्चय नहीं कर सका तब वह सर्वज्ञस्वभावी स्वस्वरूपका निश्चय कैसे करेगा?"

जो भगवानके पास जाकर पूजा, स्तोत्र इत्यादिक तो करता है किन्तु यह निर्णय नहीं करता कि भगवान कौन है और मैं कौन हूँ ? उसे धर्म कैसे होगा ? वह अपने बचावके लिये यह कहता है कि 'हम पंचमकालके अल्पबुद्धिवाले प्राणी हैं इसलिये हम तत्त्वका निर्णय नहीं कर सकते ।' किंतु यह बात वीतरागमार्गमें नहीं चल सकती । तत्त्वनिर्णयमें किसी भी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं चल सकती । भैया ! संसारके काममें तो तेरी बुद्धि चलती है, वहाँ तुझे पंचमकाल बाधक नहीं होता, और इस तत्त्वनिर्णयमें तेरी बुद्धि नहीं चलती, यह बात ही गलत है । वास्तवमें तुझे तत्त्वनिर्णयकी दरकार ही नहीं है । तत्त्वनिर्णयके बिना त्याग किसका करेगा ? जो वास्तवमें तुझे समझने लायक तत्त्व है उसे तो समझता नहीं है और बाहरी त्याग–वैराग्यमें आत्मभानके बिना लग जाता है, किन्तु इसमें भी धर्म नहीं है । और तत्त्वज्ञानके बिना अकेला वैराग्य (मंदराग) भी वस्तुका स्वरूप नहीं है । वह तो पुण्यभाव है, उसमें धर्म नहीं है । संयमका पालन करे, परिग्रहको कम करे, एकबार रसोई बनावे, इसमें वह मान बैठा है कि प्रवृत्ति कम हो गई, और अमुक रकमसे अधिक न रखकर उसमें धर्म मान लेता है, किन्तु आत्मभानके बिना वीतरागकी तराजूमें उसके त्याग और संतोष इत्यादिककी धर्ममें गिनती नहीं है । वीतरागमार्गमें तत्त्वनिर्णयके बिना धर्म हो ही नहीं सकता । आत्माके निर्णय बिना व्रत, तप, भक्ति, पूजा इत्यादि समस्त कार्य असत् हैं । उसमें पुण्य है लेकिन धर्म नहीं है, इसलिये उसको असत् कहा ।

कुछ लोग भड़कके कहते हैं कि अरे, क्या हमारा सब गलत ? ऐसे विपरीत मान्यतावाले भड़क उठे, ऐसी यह बात है । जगतके

लोग जरासी शुभरागकी क्रिया करके समझते हैं कि अब तो मोक्ष हो जायेगा, किन्तु यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दर्शनके विना यह सब असत् है। आत्माको समझे बिना व्रत, तप, इत्यादिक करना वह तो बिना इकाईकी बिन्दीके समान है।

पुण्य करते करते उससे धर्म हो जाय यह अशक्य है। अभी पुण्य करेंगे तो देव होंगे और उसके बाद भगवानके पास जाकर धर्म प्राप्त करेंगे, इसलिये अभी पुण्य करलें, इस समय तत्त्व समझनेकी आवश्यकता नहीं है, ऐसी मान्यतावाले धर्मको तो प्राप्त नहीं कर पाते किन्तु तत्त्वके विरोधसे नीचे उतरते जाते हैं। आत्माका निर्णय किये बिना शुभभाव करके यदि कोई जीव देव हो भी गया तो उससे क्या ? वह पुण्यसे लाभ मानकर अपने गुणोंको तो दग्ध कर रहा है।

अरे जीव ! आत्माका भान प्राप्त किये विना प्रतिक्षण अरबों रुपया पैदा करनेवाला बहुत बड़ा राजा भी अनन्तवार हुआ, स्वर्गका बहुत बड़ा देव भी तू अनंतवार हुआ और ऐसी विक्रियाऋद्धिवाला देव भी हुआ जो एक कल्पनामात्र करके अनेक द्वारिका नगरियाँ, अनेक कृष्ण और अनेक गोपियां दिखा सकता है। किन्तु भाई ! आत्माका भान किये विना तेरा उद्धार न हुआ और तेरे चौरासीके अवतारका अंत न हुआ।

प्रश्नः—आपने कहा कि दया, दानादिमें धर्म नहीं है, तो इससे तो पैसेवालोंकी बन आयेगी। क्योंकि अब वे पैसा क्यों खर्च करेंगे ?

उत्तर :—भाई यह तो सही है कि दान इत्यादिमें धर्म नहीं होता, किन्तु यह कौन कहता है कि तृष्णा कम नहीं करना चाहिये ? पहले तृष्णा तो कम करे, तृष्णा कम करनेके लिये कौन इनकार करता है ? तृष्णा कम करनेमात्रसे धर्म नहीं है, किन्तु यदि वह तृष्णा ही न घटाये तब तो पाप भावमें ही जायेगा।

तत्त्वका निर्णय करनेके लिए सबसे पहले भगवानके द्वारा कहे गये आगमका सेवन करना चाहिए। इस कथनमें यह भी निहित है कि सच्चा आगम क्या है इसका निर्णय कर लिया जाय। युक्तिका अवलम्बन चाहिये। धर्म तो अपूर्व वस्तु है, वह ऐसी वस्तु है जिसे अनादिसे कभी प्राप्त नहीं किया। यह साधारण वस्तु नहीं है। जो ऐरे गैरे कहते हैं वह सच्चा मार्ग नहीं है। क्योंकि जैसा वे कहते हैं वैसा तो अनन्तबार जीव कर चुका है, किन्तु इससे इसका संसार परिभ्रमण नहीं मिटा। इसलिये धर्म वस्तु उससे कोई दूसरी ही है, इसप्रकार सत्‌शास्त्र द्वारा तथा प्रबल युक्तियों द्वारा निर्णय करना चाहिए, तथा परम्परा गुरुओंका उपदेश और स्वानुभव इन चारों द्वारा तत्त्वका निर्णय करना चाहिए। ऐसे चारों प्रकारके द्वारा आत्माकी पहिचान करनी चाहिये।

आदमी संसारके कामकी विधि बराबर समझता है, वह उस विधिमें उलटा नहीं करता। हलुआ बनाना हो तो पहले घीमें आटेको सेकता है और उसके बाद शक्करका पानी डालता है; किन्तु पहले शक्करके पानीमें आटेको डालकर सेके तो हलुआ नहीं बनेगा। इसीप्रकार धर्मके लिये भगवानने पहली विधि आत्माका

निर्णय करना बताई है, उसको समझे बिना उलटा करे तो धर्म नहीं होगा। जब तक आत्माके स्वभावका तत्त्वसे यथार्थ निर्णय नहीं किया जाय तबतक जितने भी व्रत, तप आदि किये जाते हैं वे सब शक्करके पानीमें आटेको डालकर हलुआ बनानेके समान हैं, जो कभीभी नहीं हो सकता। यदि विधिमें फर्क पड़ जाय तो निश्चित कार्य नहीं होता। धर्मकी विधिमें पहले आत्माका निर्णय करनेरूप जो सम्यग्दर्शन है वह घीमें आटेको सेकनेके समान है; और सम्यग्दर्शन के बिना व्रत, तप इत्यादि सब कुछ करने लग जाय तो वह शक्करके पानीमें आटेको डालनेके समान है। तात्पर्य यह है कि पहले सम्यग्दर्शनरूपी विधिके बिना धर्म नहीं होता। तत्त्वनिर्णयके लिये जिनवचन चतुरअनुयोगमय है उसका रहस्य ज्ञातव्य है, उसमें द्रव्यानुयोगमें द्रव्य-गुण-पर्याय आदि वस्तुस्व-रूपका कथन होता है। चरणानुयोगमें रागको घटाने और परिणामको सुधारनेके लिये मुनि–श्रावकके आचरणका कथन होता है। करणानुयोगमें कर्मादिके स्वरूपादिकी और स्वर्गलोक, मध्यलोक और अधोलोककी रचनाकी तथा गुणस्थानादिके सूक्ष्म परिणामोंकी बात होती है। और प्रथमानुयोगमें धर्मकथाओं द्वारा तीर्थंकरादि पुराणपुरुषोंका जीवनचरित्र होता है; ऐसे चारों अनुयोगके अभ्यासके द्वारा सभी पहलुओंसे मिलान करके तत्त्वका निर्णय करना चाहिए।

आत्मा क्या वस्तु है, नवतत्त्व क्या है? इत्यादिका निर्णय न हो तो धर्म नहीं होगा। यदि कोई आत्माका निर्णय किये बिना व्रत तप करने लग जाय तो उसको मात्र पुण्यबन्ध होगा, आत्मकल्याणरूप धर्म नहीं होता।

भगवानके वचन अपार हैं, श्री गणधरदेव भी उसका पूरा पार नहीं पा सके। इसलिये वीतरागदेव द्वारा कहे गये तत्त्वोंमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका पहले निर्णय करना चाहिये। यदि प्रयोजन-भूत वस्तुमें फर्क आगया तो तत्त्वका निर्णय सम्यक् नहीं होगा। संसारमें किसीके दो दुकानें हों, उनमें एक हो हीरा-माणिककी बड़ी दुकान और दूसरी हो बिनौलेकी छोटी दुकान, उनमेंसे हीरा माणिककी दुकानमें नफा हो और बिनौलेकी दुकानमें नुकसान हो तो वह नुकसान पूरा हो सकता है। किन्तु यदि हीरा-माणिक की दुकानमें नुकसान हो और बिनौलेकी दुकानमें लाभ हो तो हीरा-माणिककी दुकानकी हानि पूरी नहीं की जा सकती। वहाँ व्यापारी हीरेकी दुकानकी ओर बराबर ध्यान रखता है क्योंकि मूल रकम हीरेकी दुकानमें है। इसीप्रकार आत्मस्वरूपके निर्णयका उद्यम तो जवाहरातकी दुकान जैसा है, और शुभ भाव तो बिनौलेकी दुकान जैसा है, आत्माके स्वरूपके निर्णयमें जो भूल होती है वह जवाहरातकी दुकानकी हानिकी तरह है, और जो दया, दान, भक्ति इत्यादिक पुण्यभावमें लगना है सो बिनौले की दुकानके मुनाफेकी तरह है। किन्तु उस छोटेसे मुनाफेसे उस बड़े भारी नुकसानकी पूर्ति नहीं हो सकती जो नुकसान स्वरूप–निर्णयकी भूलसे होता है।

पहले काश्तकारका उदाहरण दे चुके हैं; उसमें कहा कि जब वह नगद रकमका ही इन्कार करता है तो उसे बहीखाते मेंसे कैसे निकाला जाय? इसीप्रकार प्रयोजनभूत रकम का निर्णय किये बिना यदि कोई पुण्य करता है और तत्त्व समझनेका इन्कार करता है तो उसको धर्म नहीं है। इसलिये चौरासीके

बहीखातेमें से उसका छुटकारा नहीं हो सकता; इसलिये हे जीव ! तुझे यही सीखना चाहिये कि जिससे जन्म-मरणका नाश हो, तत्त्वका निर्णय सबसे प्रथम करना चाहिए। संसार भले पागल कहे या निन्दा करे किन्तु इस तत्त्वका निर्णय करनेसे मत चूकना। श्री समयसारजी में कहा है कि:—"तू एक बार जिज्ञासा तो कर कि यह चैतन्यतत्त्व क्या है ? प्रतिष्ठामें, कीर्ति में, धन-सम्पत्तिमें और कुटुम्ब इत्यादिमें अपनापन मानकर जो उसमें एकतान होरहा है उसे भूलकर भीतर आत्मामें एकबार डुबकी लगाकर उसकी तहतक पहुँच जा। जैसे कोई गोताखोर कुए में डुबकी लगाकर उसकी तहतक पहुँच जाता है उसीप्रकार आत्माकी तहतक पहुँचनेका प्रयत्न कर। दुनियाँको भूलकर—अरे ! मरकरके भी अंतर्तत्त्व क्या है यह जाननेके लिये आत्माके भीतर एकबार डुबकी तो लगा। मरकर भी अर्थात् चाहे जैसी प्रतिकूलता और कठिनाइयोंको झेलकर भी एकबार आत्माको जाननेका कुतूहल कर—तीव्र जिज्ञासा कर। तूने अनन्तबार शरीरके लिये तो आत्माको गँवा दिया किन्तु अब एकबार आत्माके लिये सारा जीवन दे दे, जिससे तुझे भव न रहे। दुनियाको भूल जा, दुनियाकी परवाहको छोड़कर आत्मरस में मस्त हो जा और पुरुषार्थ करके अंतर्पट को तोड़ दे।

प्रवचन : ३

प्रयोजनभूत तत्त्वोंका दिग्दर्शन

मुमुक्षुको अपने आत्महितके लिये मूल तत्त्वोंकी पहचान करनी चाहिए। अपने प्रयोजनभूत तत्त्वोंकी पहचानके बिना कल्याण नहीं होता। जैसे लोग किसी पेढीको चलाते हुये अमुक लाभदायक मुख्य वस्तुका व्यापार करते हैं, उसीप्रकार त्रिलोकी-नाथ तीर्थंकरदेवकी धर्मकी जाज्वल्यमान पेढीमें मूल प्रयोजनभूत अनेक रकमें हैं, उन्हें निर्णयपूर्वक अवश्य जानना चाहिये। कहा है कि:—

अन्तो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तं णवर सिक्खियव्वं जिं जरमरणक्खयं कुणहि ॥९८॥

पाहुड-दोहा

श्रुतियाँ अनन्त हैं और काल थोड़ा है तथा हम अल्प बुद्धि-वाले हैं, इसलिए हे जीव ! तुझे वह सीखना चाहिए जिससे तू जन्म-मरणका नाश कर सके। मोक्षमार्गमें कौन कौनसी वस्तुयें जानना आवश्यक हैं ? उनमेंसे कुछ यहां बताई जाती हैं। सबसे पहला है—जिनधर्म।

(१) जिनधर्मः—त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी धर्मकी जाज्वल्यमान पेढी, जहाँ शुद्ध मार्ग प्रवर्तित करनेवाली दिव्य वाणी खिर रही हो उसके मार्गका क्या कहना ! जिनधर्म ही परम सत्य धर्म है, उसे पहचान कर उसका निर्णय करना चाहिए। वीतरागता ही जिनधर्म है; जो राग है वह धर्म नहीं है।

(२) जिनमतः—जिनने आत्माके स्वभावसे राग-द्वेषको जीत लिया वे जैन हैं। उनका मत क्या है, वे क्या कहते हैं ? यह जानना चाहिए।

(३-४) देव-कुदेवः—अरहन्त और सिद्ध दोनों देव हैं उनका लक्षण क्या है ? यह जानना चाहिये। जो उनसे विरुद्ध हैं वे कुदेव हैं, इनका सेवन छोड़ना चाहिए।

(५-६) गुरु-कुगुरुः—सच्चा गुरु कौन है ? सब अपने को सच्चा ही कहलवाते हैं किन्तु उनमें सच्चा कौन है ? और दम्भी कौन है ? इसका निर्णय करना चाहिए ।

(७-८) शास्त्र-कुशास्त्रः—अनेक शास्त्र हैं उनमेंसे सच्चे कौनसे हैं और खोटे कौनसे हैं ? त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी वाणीमें कहे गये तत्त्वके स्वरूपको दिखानेवाले सच्चे शास्त्र कौनसे हैं ? और उनसे विरुद्ध कौनसे हैं इसका निर्णय करना चाहिये।

यह सब प्रयोजनभूत तत्त्व हैं। समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वोंका यथार्थ निर्णय करना चाहिए। प्रयोजनभूत तत्त्वोंका निर्णय किये बिना तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। और तत्त्वज्ञानके बिना कल्याण नहीं होता।

जिनधर्मको समझनेवाले और समझानेवाले सच्चे गुरु कैसे होते हैं ? यह जानना चाहिये। जिसने बहिरंगमें साधुका वेष

धारण कर लिया हो और बाह्यक्रियाओंका पालन करता हो, किन्तु अन्तरंगमे तत्व–श्रद्धान विपरीत हो तो उसमें गुरुत्व की योग्यता नहीं, वह कुगुरु है। रत्नत्रयधारक वीतरागी दिगम्बर मुनि ही सच्चा गुरु है।

(९-११) धर्म-अधर्म-कुधर्मः—धर्म वस्तुका स्वभाव है, वह कहीं बाहरसे नहीं आता। जिसमें धर्मकी कोई खबर ही न हो, वह अधर्म है। अथवा धर्मकी जिसमें कोई रुचि ही न हो वह अधर्म है। धर्म तो वस्तुका स्वभाव है, आत्माका वीतरागभाव धर्म है। यह कोई साधारण नहीं है। चार ज्ञानके धारी गणधरदेव और इन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि महान व्यक्ति जिसका आदर करते हैं ऐसा जैन-धर्म है, वह ऐरे-गैरे लोग कहते हैं ऐसा साधारण नहीं है। धर्म तो अपूर्व वस्तु है। धर्मके नामपर बहुतसे लोग उपदेश करते हैं; वे कहते हैं कि खूब पुण्य करो, उससे धर्म होगा। पुण्य कर करके पुण्यका समुद्र उछला दो, उससे पुण्य फटकरके उसमेंसे धर्म प्रगट होगा; उसका अर्थ यह हुआ कि विषको पीते पीते अमृतका स्वाद आ जायगा। यों कहनेवाले सच्चे वीतरागी धर्मका स्वरूप नहीं समझे हैं। पुण्य तो बन्धभाव है, जिस भावसे पराधीनता होती है, जिससे बन्धन होता है उस भावसे स्वाधीनतारूपी धर्म कैसे हो सकता है ? और वह मोक्षका साधन कैसे हो सकता है ? धर्मके स्वरूपसे जो विपरीत मान्यता है वह कुधर्म है। जहाँ पर हित और अहितका किंचित् मात्र भी विचार नहीं है और सच्चे मार्गकी ओर कोई रुचि ही नहीं है, वह अधर्म है।

(१२-१३) हेय-उपादेयः—कौन कौनसे तत्त्व ग्रहण करने योग्य है और कौन कौनसे त्याग करने योग्य हैं इसका निर्णय

करना चाहिये। मोक्षके कारणरूप तत्त्व उपादेय है, बन्धके कारणरूप रागादि भाव सभी हेय है।

सच्चे देव-गुरु और धर्मका संशय रहित ठीक ठीक निर्णय करना चाहिए। अज्ञानता बचाव नहीं, किन्तु दोष है। लोग कहते हैं कि "अन्धेकी गायका भगवान रखवाला" किन्तु यह बात यहाँ पर धर्ममें नहीं चल सकती। यहाँ तो जन्म-मरणको मिटानेकी बात है। परम सत्य धर्ममें अन्ध-श्रद्धासे काम नहीं चल सकता। यह तो मिथ्यात्वरागादिदोष रहित स्वरूपमार्ग है, अनन्त तीर्थंकरोंका मार्ग है, उसमें प्रयोजनभूत तत्त्वकी श्रद्धामें किंचित् मात्र भी विपरीतता नहीं चल सकती।

(१४-१६) तत्त्व-अतत्त्व-कुतत्त्वः–सर्वज्ञ भगवान द्वारा कहे गये नवतत्त्वोंका स्वरूप क्या है? तत्त्वसे विपरीत क्या है? अज्ञानियोंके द्वारा माना गया तत्त्वका स्वरूप जो कुतत्त्व है वह क्या है? केवल झूठी बातोंसे कल्पना द्वारा दूसरोंका माना हुआ कुतत्त्व क्या है? इन सबका यथार्थ निर्णय आगमके द्वारा करना चाहिये।

(१७-१९) मार्ग-कुमार्ग-अमार्गः–सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहा गया मोक्षका मार्ग क्या है? उससे विपरीत कुमार्ग क्या है? और जहाँ पर हिताहितका बिलकुल बिचार ही नहीं है, मार्गकी ओर झुकाव ही नहीं है, ऐसा अमार्ग क्या है? यह जानना चाहिये।

प्रश्नः—अमार्गमें तो मार्गकी ओर झुकाव ही नहीं है, तब उस अमार्गसे तो कुमार्ग ही अच्छा है न ?

उत्तरः—इन दो मार्गोंमेंसे एक भी मार्ग ठीक नहीं है। जहाँ सत्य समझमें नहीं आता और असत्य को घुसेड़ दिया जाय तो उस मार्गको ठीक कैसे कहा जायगा ? कुमार्ग और अमार्ग दोनों ही खराब हैं। वीतरागी जिनमार्ग ही कल्याणकारी सच्चा मार्ग है।

(२०-२१) संगति-कुसंगतिः—सत्संग क्या है ? और असत्संग क्या है ? तथा यथार्थ बात कहाँ से मिलती हैं यह बात जानना चाहिए। और विपरीत मान्यतावालेंका कुसंग छोड़ना चाहिए।

(२२-२३) संसार-मोक्षः—संसार और मोक्ष किसे कहना ? स्त्री, मकान, लक्ष्मी, कुटुम्ब इत्यादि पर पदार्थोंमें आत्माका संसार नहीं है किन्तु शरीर मेरा है, मैं परका कुछ कर सकता हूँ, पुण्यसे मुझे लाभ होता है, पुण्य करते करते धर्म होना है इस प्रकारकी जो विपरीत मान्यता है, वह मिथ्यात्वादि भाव ही संसार है। वह आत्माकी क्षणिक विकारी अवस्था है और पुण्य पाप रहित स्वभावका भान तथा स्थिरता द्वारा सम्पूर्ण पवित्रता-रूप जो अपनी निर्मल दशा होती है वह मोक्ष है, वह भी आत्मा-की अवस्था हैं। मोक्ष कहीं बाहरसे नहीं आता किन्तु पुरुषार्थके द्वारा आत्मामेंसे ही परिपूर्ण शुद्ध ज्ञानानंदमय मोक्षदशा प्रगट होती है।

प्रश्नः—जैनधर्म तो सबसे निराला (बेमेल) मालूम होता है !

उत्तरः—जैनधर्म स्वभावके साथ सम्पूर्ण मेलवाला है। हाँ इस सत्यार्थ धर्मका किसी भी असत्यार्थ धर्मके साथ मेल नहीं हो सकता, इसलिये वह असत्यसे बिलकुल बेमेल है। मेल बिठानेके लिये विष और अमृतको एकसा नहीं माना जा सकता। उसी प्रकार जैनधर्मको अन्य धर्मके साथ तुलना नहीं हो सकती। मोक्षदशामें एक आत्मा दूसरे आत्मामें मिल नहीं जाता; किन्तु पूर्ण पवित्रता प्रगट करके वह भगवान अनन्तकाल तक स्वतंत्रतया अपने स्वरूपकी शान्ति और अनन्त सुखका भोग करता है। जगत्का दुःख देखकर वह भगवान अवतार नहीं लेते, भगवान तो वीतराग हैं। निवृत्ति लेकर सत्समागमके द्वारा सत्का निर्णय करना चाहिये। इस तत्त्वनिर्णयके लिये प्रयोजनभूत रकम कौन कौनसी हैं? वह यहाँ कहा जाता है।

(२४-२५) जीव-अजीवः—जीव किसे कहते हैं? और अजीव किसे कहते हैं? इन दोनोंका लक्षणोंके द्वारा यथार्थ निर्णय करना चाहिये। लोग कहते हैं कि हाथी, चींटी, मनुष्य इत्यादि दिखते हैं वह जीव है, किन्तु हाथी इत्यादि दिखता है वह तो शरीर है—और वह अजीव है; वह शरीर छूट जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो शरीरमें रहनेवाला जो ज्ञाता है वह जीव है। शरीर तो अजीव है। शरीर कहीं जीवके साथ नहीं आता क्योंकि वह जीवसे भिन्न वस्तु है—अजीव है। और आत्मा असंयोगी ज्ञान, आनन्दकी मूर्ति है। चैतन्यतत्त्व अमूर्त है वही जीव है।

(२६) आस्रवः—जो मिथ्यात्व तथा पुण्य पापके विकारी भाव हैं वे आस्रवभाव हैं। व्रत, तपका विकल्प शुभ आस्रव है,

हिंसादिक अशुभ है। आत्मभानके बिना व्रत, तप या त्याग सत्य नहीं हो सकते। बाह्य लौकिक नीति, सत्य बोलना इत्यादि तथा धर्मका बाना धारण करके जो शुभभावकी क्रिया है वह भी आस्रव है, विकार है, बन्धन है, वह संवर निर्जरारूप जैनधर्म नहीं है। जैनधर्म तो आत्माका वीतरागस्वरूप है उसका भान किये बिना और भानके बाद भी जो भक्ति, व्रत, पूजा इत्यादि शुभभाव करनेसे पुण्यका बन्ध होता है, वह शुभ आस्रव है वह धर्म नहीं है, संवर नहीं है।

(२७) बन्धः—पुण्य और पाप दोनों बन्धन हैं, पापकी अपेक्षासे पुण्य ठीक है, किन्तु धर्म पुण्यसे अलग वस्तु है। जिस भावसे बन्ध होता है उस भावसे आत्माका अबन्ध स्वभावरूप धर्म नहीं होता।

(२८-२९) संवर-निर्जराः—आत्माके किस भावसे नया आस्रव-बन्ध रुकता है? और किस भावसे पूर्वके पुण्य पापका आंशिक अभाव होता है? इसका बराबर निर्णय करना चाहिये। आत्मभानके बिना यथार्थ संवर-निर्जरा नहीं हो सकती। लोग मानते हैं कि खाना पीना छोड़ दिया इसलिये तप होगया और निर्जरा होगई, और उपवास करके शरीर को सुखा लिया इसलिये अन्दर धर्म हुआ होगा।

इसप्रकार शरीरकी दशासे धर्मको नापते हैं, किन्तु उन्हें अभी यह खबर भी नहीं कि धर्म क्या वस्तु है? और वह कहाँ है? धर्मस्वरूप आत्माकी पहिचान हुये बिना धर्म कहाँसे

होगा ? और उसके बिना संवर निर्जरा नहीं हो सकती। आत्म-भानके बिना कर्मोंकी तो नहीं, किन्तु कालकी निर्जरा होती है अर्थात् उसका समय व्यर्थ जाता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र-रूप वीतरागभावसे ही संवर-निर्जरा होती है।

वीतराग मार्गमें आवश्यक रकमोंका ठीक निर्णय न करके धर्मके नाम पर बाह्य प्रवृत्तियोंमें लगे रहनेसे भव नहीं घटता, धर्म नहीं होता।

(३०) मोक्षः—पहले तेवीसवीं रकममें मोक्षकी बात कही गई थी, किन्तु वह संसार और मोक्ष इन दो अवस्थाओंकी बात थी। यहाँ पर सात तत्त्वोंमेंसे मोक्ष तत्त्वकी बात है।

(३१-३६) जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-कालः—यह छह जातिके द्रव्य जगतकी त्रैकालिक वस्तुएँ हैं। जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्तानन्त हैं, एक धर्म और एक अधर्मद्रव्य है जो समस्त लोकमें व्याप्त हैं। सर्वज्ञ वीतरागदेवके सिवाय दूसरोंके मतमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्यके यथार्थ स्वरूपका कथन नहीं है। लौकिक रीतिसे निर्णय कर लेना यथार्थ निर्णय नहीं है। आकाश सर्वव्यापक एक अरूपी वस्तु है जो लोकालोकमें व्याप्त होकर रहते हैं और काल-द्रव्यके असंख्यात अणु हैं, ऐसे छह द्रव्यके स्वरूप पहचानना चाहिये।

(३७) वस्तुः—वस्तु किसे कहते हैं ? वस्तु त्रैकालिक है, उसका कभी नाश नहीं होता। प्रत्येक वस्तु स्वतन्त्र होती है, कोई वस्तु पराधीन नहीं होती। और वस्तु अनेकान्तस्वरूप है।

(३८-४०) द्रव्य-गुण-पर्यायः—द्रव्य अर्थात् गुणोंका समुदाय; प्रत्येक द्रव्यके गुण पृथक् पृथक् हैं। जो वस्तुके सर्व भागमें और उसकी त्रैकालिक सर्व अवस्थाओंमें रहता है वह गुण है। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण हैं और उन गुणोंकी प्रति समय अवस्था बदलती रहती है—गुणोंका परिणमन हुआ करता है उसे पर्याय कहते हैं।

कुछ जीवोंने तो ऐसी चर्चा पहले कभी कहीं सुनी नहीं होगी। वस्तुका ज्ञान किये बिना, धर्म करना चाहता है किन्तु उसे यह भान ही नहीं है कि धर्म कहाँ होता है? आत्माको धन आदि बाह्य वस्तुसे किंचित् मात्र भी लाभ नहीं है। यहाँ तो आत्माके अन्तरंग धनकी बात हो रही है।

पैसेसे न तो लाभ होता है और न हानि। किन्तु उसके प्रति जो ममता है वही हानि करती है।

प्रश्नः——जब कि पैसा हानि नहीं करता तब पैसा रख लेने-से क्या हानि है?

उत्तरः——पैसा हानि नहीं करता यह ठीक है। किन्तु हमने यह कब कहा है कि पैसेके प्रति ममता करनी चाहिये तथा पैसे-को रखनेका भाव करना चाहिये और उसके प्रति जो तृष्णा है उसे कम न करना चाहिये? तू अपने भावमें पैसेकी ममताको कम क्यों नहीं करता? इसको कौन मना करता है? धनके प्रमाणमें मोह नहीं है किन्तु उसके प्रति जो तृष्णा है उसके प्रमाणमें मोह और बन्धन है। किसीके धन तो थोड़ा होता है

और ममता अधिक होती है और किसीके धन अधिक होता है और ममता थोड़ी।

द्रव्य क्या है और पर्याय क्या है ? सिद्धपना है सो द्रव्य नहीं किन्तु आत्माकी निर्मल पर्याय है। द्रव्य त्रिकाल एकसा रहता है और पर्याय नयी नयी होती रहती है। राग जीवकी अवस्था है अथवा जड़की ? कौनसी अवस्था किस द्रव्यकी है ? यह सब, जिस प्रकार है उसीप्रकार जानना चाहिये।

(४१) द्रव्यपर्यायः—वस्तुके आकारको अथवा क्षेत्रांशको द्रव्यपर्याय कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने अपने ही क्षेत्रमें रह रहा है। आत्मा असंख्यप्रदेशी है वह उसका स्वक्षेत्र है। यह बात गलत है कि 'एक ही आत्मा है और वह सर्वव्यापी है।' जीव अनन्त हैं और वे सब तीनों कालमें पृथक् पृथक् ही हैं; प्रत्येकको द्रव्यपर्याय पृथक् पृथक् हैं।

प्रश्नः—हाथीके शरीरमें रहनेवाला जीव चींटीके शरीरमें कैसे समा सकता है ?

उत्तरः—जब जीव हाथीके शरीरमें होता है तब उसके असंख्यात प्रदेश समस्त शरीरमें फैल जाते हैं और जब चींटीके शरीरमें होता है तब उसका आकार संकुचित हो जाता है; फिर भी आत्माके प्रदेशोंकी संख्यामें किंचित्मात्र भी कमीवेशी नहीं होती। और न प्रदेश छोटा-बड़ा होता है। चींटीका भी आत्मा असंख्यप्रदेशी है और हाथीका आत्मा भी असंख्यप्रदेशी है, उनके प्रदेशोंमें और आत्माके गुणोंमें भी हीनाधिकता नहीं होती।

सिद्ध भगवानमें जितने गुण हैं उतने ही सब गुण प्रत्येक आत्मामें सदा भरे रहते हैं। अनादिसे संसारमें रहने पर भी जीवका एक भी गुण कम नहीं हुआ। वस्तु स्वतंत्र है, वह किसीके आधीन नहीं है; यह बात अपूर्व है, इसको एक बार तो स्वीकार कर। यदि हाँ कहेगा तो सिद्ध होगा, और ना कहेगा तो संसारमें रुलेगा।

(४२) अर्थपर्याय:—प्रदेशत्वगुणके सिवाय अन्य गुणोंके परिणमनको अर्थपर्याय कहते हैं।

(४३) व्यंजनपर्याय:—व्यंजनपर्यायको द्रव्यपर्याय भी कहते हैं। जो वस्तुका आकार है सो व्यंजनपर्याय है, शरीरका आकार अलग है। आत्मप्रदेशोंका जो आकार है सो आत्माकी व्यंजनपर्याय है। आत्माका आकार वर्तमान देहप्रमाण है किन्तु शरीरका आकार भिन्न है और आत्माका आकार भिन्न है। कोई किसीके लिये प्रेरणा या मदद नहीं करता, दोनों स्वतंत्र हैं। यह सब मूल रकमें कहलाती हैं। जो इन मूल रकमोंके स्वरूपको नहीं मानता और विपरीत मानता है वह सच्चा जैन नहीं है, तब वह श्रावक या साधु कहाँसे हो सकता है?

प्रश्न:—हम प्रति वर्ष तीर्थयात्राके लिये जाते हैं फिर भी श्रावक नहीं?

उत्तर:—भैया! वह शुभभाव है; किन्तु आत्माकी पहचानके बिना पहाड़के ऊपर चढ़ गये और मूर्तिके दर्शन कर लिये इससे कहीं धर्म नहीं हो जाता। मूर्तिमें या पहाड़में कहीं आत्माका धर्म नहीं घुसा होता, यह तो मात्र निमित्त हैं और सो भी वह निमित्त

तब कहलाते हैं जब कि अपने अक्रिय वीतरागस्वरूपको स्वयं जाने। अपूर्णदशामें जो राग रह जाता है उस रागका वह निमित्त है। और वास्तवमें तो जीव जब पूर्ण परमात्मस्वरूपको याद करता है तब 'अहो! यही परमात्मा है' इसप्रकार मूर्तिमें वीतरागकी स्थापना करता है; इस तरह मूर्तिमें भगवानकी जो बुद्धि है वह स्थापनानिक्षेप कहलाता है।

जिसे तत्त्वज्ञान होता है उसे वीतराग सर्वज्ञदेव वगैरहकी पहिचान होती है और वही उनकी सच्ची भक्ति कर सकता है। किन्तु जिसे सर्वज्ञदेवके मूल स्वरूपका ही भान नहीं है वह किसकी स्थापना करेगा ? जिसे अभी वीतराग भगवान द्वारा कहे गये नवतत्त्वोंके नाम की भी खबर नहीं है वह मूल तत्त्वोंका निर्णय कैसे करेगा ?

(४४) असमानजातिय द्रव्यपर्यायः—आत्मा और शरीर दोनों असमानजातिके हैं, भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। उन दोनोंके संयोगसे मनुष्य वगैरह पर्याय कहना सो असमानजाति द्रव्यपर्याय है। शरीर और आत्मा असमानजाति है इसलिये आत्मा शरीरका कुछ नहीं कर सकता और शरीरसे आत्माका कुछ नहीं होता। आत्मा शरीरके आश्रयसे धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि दोनोंकी जाति जुदी है। आत्मा अरूपी ज्ञातास्वरूप वस्तु है, वह देहादिक रूपी जड़ वस्तुका कुछ भी नहीं कर सकता और न परद्रव्य भी आत्माका कुछ कर सकते हैं।

(४५) विभाव द्रव्य व्यंजनपर्यायः—परद्रव्यके निमित्त-से होनेवाली विकारी व्यंजन अवस्थाको विभाव द्रव्य-व्यंजन

पर्याय कहते हैं। यह पर्याय जीव और पुद्गलोंमें ही होती है; शेष चार द्रव्योंकी व्यंजनपर्याय शुद्ध ही होती है।

विभाव=विकारी, द्रव्य=वस्तु, व्यंजनपर्याय=प्रगट अवस्था। मनुष्य, नारकी और देव इत्यादि आकार है वह जीवकी विभाव व्यंजन पर्याय है और जो स्कन्ध है सो परमाणुकी विभाव व्यंजन पर्याय है।

किसीको मनमें ऐसा हो कि एक घंटेमें तो अनेक बातें आती हैं, इनमेंसे हम कितनी समझें ? उसके लिये कहते हैं कि भाई ! तेरे हित करना है न ? तो हितके लिये मूलभूत सब बात समझनी होगी। जिसके अंतरंगमें जन्म-मरणको दूर करनेके लिये सत्की जिज्ञासा जागृत हो गई है वह घबड़ाता नहीं। इन जीवादि मूल तत्त्वोंका निर्णय किये बिना जन्म मरणको दूर करनेका उपाय हाथ नहीं लग सकता।

(४६) स्वभाव व्यंजनपर्यायः—पर निमित्तके संयोगके बिना प्रदेशत्व गुणकी जो सहज पर्याय होती है उसे स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। जीवको सिद्ध पर्याय और एक पृथक् परमाणुकी पर्याय यह दोनों स्वभाव व्यंजनपर्याय हैं। शेष चार द्रव्योंमें सदैव स्वभावव्यंजन पर्याय ही है।

(४७) स्वभाव अर्थ पर्यायः—अगुरुलघुगुणके परिणमनको स्वभावपर्याय अथवा स्वभावअर्थपर्याय कहते हैं। वह सूक्ष्म है। संसारी जीव अपने बहीखातेका हिसाब मिलानेके लिये रात्रिजागरण करके भी रोकड़ बाकीका मेल मिलाता है तो यह तो भगवानके बहीखातेका हिसाब मिलाना है, इसमें तो

विशेष उद्यम करना चाहिए। अनभ्यासके कारण यह बात कठिन व मँहगी लगती है किन्तु वास्तवमें मँहगी नहीं है। यह तो अपने घरकी चीज है, घरकी चीज मँहगी कैसे कही जा सकती है ? समझनेका उद्यम करना चाहिए। केवलज्ञानादि स्वभाव अर्थपर्याय है।

(४८) शुद्ध अर्थपर्यायः—पर की उपाधिसे रहित प्रदेशत्व गुणके अतिरिक्त गुणकी पर्यायको शुद्ध अर्थपर्याय कहते हैं। केवलज्ञान शुद्ध अर्थपर्याय है।

(४९) अशुद्ध अर्थपर्यायः—परकी उपाधिसे जो अवस्था होती है वह अशुद्ध अर्थपर्याय है। रागद्वेषादि पर्याय अशुद्ध अर्थ-पर्याय है।

(५०) सामान्य गुणः—जो गुण छहों द्रव्योंमें होता है उसे सामान्यगुण कहते हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। वे सब वस्तुओंमें होते हैं।

(५१) विशेषगुणः—जो गुण समस्त द्रव्योंमें नहीं होता, किन्तु अमुक खास द्रव्योंमें होता है उसे विशेष गुण कहते हैं। आत्माके ज्ञान दर्शन इत्यादि गुण हैं, वे अन्य द्रव्योंमें नहीं होते। इसलिए ज्ञान–दर्शन इत्यादि आत्माके विशेष गुण हैं; और वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श परमाणुके विशेष गुण हैं।

इसप्रकार सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये तत्त्वोंमेंसे यहाँ ५१ रकमोंका कथन किया। सर्वज्ञकथित तत्त्वोंका जब तक

यथार्थ निर्णय नहीं कर लेता तब तक जीवको सच्चा श्रावकत्व या मुनित्व वगैरह धर्म नहीं हो सकता, वह जैन (-सम्यग्दृष्टि) भी नहीं है। यदि कोई यथार्थ तत्त्वका निर्णय न करे और अपनी कल्पनासे या किसी अज्ञानी गुरुके कहनेसे तत्त्वके स्वरूपको चाहे जैसा (-विपरीत) मान बैठे तो अनादिकालसे तत्त्वनिर्णयमें जो गड़बड़ी है वह बनी रहेगी और यथार्थ तत्त्वनिर्णय के बिना उसका मिथ्यात्व नहीं छूटेगा, और जन्म-मरण नहीं मिटेगा।

श्री पद्मप्रभ मुनिराज नियमसारमें कहते हैं कि - रे जीव! भव भयके भेदनेवाले यह भगवान जिनेन्द्रदेवके प्रति क्या तुझे भक्ति नहीं है?-यदि नहीं है तो तू भवसमुद्रके बीचमें मगरके मुँहमें पड़ा हो।

प्रवचन : ४

रोग और वैद्य दोनोंको पहचानो

卐

तत्त्वज्ञानका निर्णय करनेके लिये मूल रकम (प्रयोजनभूत रकम) कौन कौनसी हैं ? यह बताया। वीतरागके कहे हुये मार्गमें आत्मस्वभाव क्या है, यथार्थ तत्त्व क्या है, और विपरीत माने हुये तत्त्व क्या हैं ? इनका निर्णय किये बिना धर्मके नाम पर त्याग करे, तप करे, व्रत, दान इत्यादिकी शुभ प्रवृत्ति करे और उसमें कषायको कम करे तो पुण्य होगा किन्तु धर्म नहीं होगा। जिससे जन्म मरण मिटता है ऐसे—वीतरागके द्वारा कहे गये मूल तत्त्वके यथार्थ ज्ञानके विना जितने व्रत तपादिक कार्य हैं वे सब विना इकाईके शून्यके समान हैं। जिनधर्म क्या है, और सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहे गये यथार्थ मत क्या हैं ? इसे जानना होगा। जगतमें सभी जीव अपने माने हुये देवको ही सच्चा देव कहते हैं। धर्मके नाम पर सब कहते हैं कि हम अपने देव गुरुकी आज्ञाको मानते हैं किन्तु परीक्षाके द्वारा सत्य—असत्यका निर्णय किये बिना यदि कोई सच्चे देव गुरुको माने तो भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं। शुभभाव करते हुए भी वह मिथ्यादृष्टि ही है, इसका विशेष कथन आगे किया जायगा।

निश्चय और व्यवहार दो प्रकारके कथनानुसार सर्वज्ञ भगवानके दो प्रकारके गुण होते हैं। निमित्तका ज्ञान करानेके लिये और अशुभभावको छुड़ानेके लिये भगवानकी वाणीमें भी पराश्रित व्यवहारका कथन आता है। व्यवहारका मतलब है निमित्तसे कथन, और निश्चयका अर्थ है स्वभावसे कथन। बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे भी सर्वज्ञके दो प्रकारके गुण होते हैं। उनमेंसे जितने शरीराश्रित गुणोंके द्वारा भगवानका परिचय कराया जाता है और उनकी स्तुति की जाती है वे सब बाह्य गुण हैं, अर्थात् वे केवल कथनमात्र हैं। निश्चयसे शरीरका वर्णादि एक भी गुण आत्मामें नहीं है; और आत्माका एक भी गुण शरीराश्रित नहीं है; आत्माके ज्ञान-दर्शनादिक गुण स्वाश्रित ही हैं, वे अभ्यन्तर गुण हैं। भगवानकी पहिचान समवसरणसे, सुन्दर शरीरसे या दिव्यध्वनि आदिसे कराई जाती है, किन्तु वह सब शरीर, वाणी इत्यादिक वास्तवमें भगवानका स्वरूप नहीं है। जैसे घी का घड़ा यह कहने मात्रके लिये व्यवहार है, कहीं घड़ा घी का नहीं हुआ करता, इसीप्रकार व्यवहारसे कहा जाता है कि यह भगवानका शुक्ल शरीर है, किन्तु वास्तवमें शुक्ल शरीर भगवानके नहीं होता, भगवान तो आत्मा है।

भगवानके द्वारा कहे गये निश्चय-व्यवहारका स्वरूप भिन्न भिन्न है और उसका फल भी अलग अलग ही है। व्यवहारके आश्रयका फल संसार है और निश्चयके आश्रयका फल मोक्ष। ['निश्चयनयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करें निर्वाणकी'] भगवानके गुणके दो प्रकार और हैं, एक अभ्युदय और दूसरा निःश्रेयस। अभ्युदयका अर्थ है पुण्यका ठाठ और निःश्रेयसका अर्थ है मोक्ष।

वास्तवमें भगवानके पुण्य है ही नहीं, वह तो पुण्य-पाप रहित वीतराग हैं। वचनविवक्षासे अर्थात् वचनोंके द्वारा कहे जाने योग्य संख्यातगुण आत्मामें हैं, और वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे अनन्तगुण हैं। किन्तु वचनों द्वारा अनन्तगुण नहीं कहे जा सकते। ज्ञानके द्वारा निर्णयमें आते हैं।

मोक्षमार्गके लिये प्रयोजनभूत तत्वोंको यथार्थ निर्णय द्वारा जाने बिना भवभ्रमणका अन्त नहीं हो सकता। इसमें बाहरका कुछ करनेकी बात नहीं है, किन्तु अन्तरंगमें सच्ची समझ प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। भाई! तू बिना समझके क्या करेगा। घरसे बाहर निकलनेके लिये किस दिशाकी ओर चलना चाहिये, इसकी खबर अन्धे आदमीको नहीं हो, और दिशाको जाने बिना यदि वह यों ही चलदे तो सिर दीवालके साथ टक्कर खायेगा। किन्तु यदि उसे कोई दिशा बतला दे, और वह उसके ध्यानमें बैठ जाय कि ठीक नाककी सीधमें सामने दरवाजा है तो यह जानकर फौरन उसके पैर गति करने लगेंगे और उसकी सारी समस्या हल हो जायगी अर्थात् वह घरसे बाहर निकल जाता है। इसीप्रकार इस संसारसे बाहर कैसे निकला जाय? बाहर निकलनेका रास्ता कौनसा है? आत्मा क्या है? उसका धर्म कहाँ होता है, कैसे होता है? इत्यादिका यथार्थ निर्णय किये बिना, पुरुषार्थकी गति कहाँ की जाय यही समस्या जीवके मनमें बनी रहती है और संशय रहा करता है कि कौनसा मार्ग होगा? किन्तु यदि वह सच्चे स्वरूपको जानले तो उसकी ओर पुरुषार्थ की गति हो और संशय दूर हो जाय; इसलिये सबसे पहले सच्ची

समझ प्राप्त करनी चाहिये। यही संसारके घटवाससे बाहर निकलनेका रास्ता है।

इस जीवने अनादिकालसे शरीरके प्रपंचको अपना जान रखा है और यह जाननेवाला स्वयं अपनेको न जानकर परमें अपनापन मान बैठा है। इसने अनादिकालसे अपनी ओर लक्ष नहीं किया इसलिये परमें, देहादिमें देहकी क्रियामें और पुण्य-पापमें वह अपना अस्तित्व मान रहा है किन्तु इन सबसे भिन्न अन्तरंगमें अपना चैतन्यस्वरूप है वह इसे दिखाई नहीं देता। इसलिये बाह्यमें लक्ष करके उसमें सुख दुःखकी कल्पना कर रहा है और परसे लाभ हानि मान रहा है, इसप्रकार यह जीव अनादिकालसे संसारमें भ्रमण करता हुआ मिथ्याबुद्धिसे शरीरके प्रपंचको सत्यरूप जानकर उसमें मग्न हुआ प्रवृत्ति कर रहा है। लोगोंमे मान मिलता है तो वह रुचता है, सेठजी धर्मके नाम पर मन्दिरमें (धर्मस्थानमें) जाते हैं और वहाँ सबसे आगे बिठाये जाते हैं। उस सभामें महाराज सेठजीकी और सेठजी महाराजकी प्रशंसा करते हैं। दोनों 'परस्पर' प्रशंसा करके बडप्पनको पुष्ट करते हैं और उसमें धर्म मानकर संतुष्ट होते हैं। इसप्रकार परस्पर धर्मके बहानेसे बाहरी हा हो हरीफाईमें लग जाते हैं। यह सब उपाय करने पर भी दुःख तो ज्योंका त्यों बना रहता है। विपरीत उपायसे दुःख दूर नहीं हो सकता। दुःखका मूल कारण है अज्ञानजनित इच्छारूपी रोग, और वह अनादिकालसे लगा हुआ है। जीव यह नहीं जानता कि इच्छा-रूपी रोग क्या है ? और वह कैसे मिट सकता है ? किन्तु वह प्रकारांतरस ऐसा उपाय किया करता है जिससे इच्छारूपी राग

निरन्तर बढ़ता रहता है। जैसे किसीको मृगीका रोग है किन्तु वह कभी तो अधिकप्रगट दिखता है और कभी कम प्रगट होता है; लेकिन वह रोग अन्तरमें तो बना ही रहता है, क्योंकि निरोग नहीं हुआ है। रोगीको निरन्तर भय बना रहता है। यदि पुण्यका उदय आ जाय और अपने उपायको गलत समझे तो वह सच्चे उपायका निश्चय करनेकी जिज्ञासा करे और उस रोगके विशेषज्ञ वैद्यके पास पहुँचे तथा उसपर विश्वास करे कि यही सच्चा वैद्य है, वह मेरा रोग मिटा देगा; और फिर उस वैद्यके कथनानुसार उपचार करे तो रोग मिट जाय।

इसीप्रकार आत्माके साथ राग द्वेष और अज्ञानरूपी महा-रोग अपनी भूलके कारण अनादिकालसे लगा हुआ है। यदि यह अभिलाषा जागृत हो जाय कि जन्म-मरणरूपी रोगका मूल कारण अज्ञान है वह कैसे मिटे ? और वह यह जानले कि अकषाय करुणाके भण्डार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान तथा आत्मज्ञानी गुरु परम वैद्य हैं, इनके सेवनसे अवश्य मेरा भव-रोग मिट जायगा; तथा उनके द्वारा कहे गये तत्त्वोंका निर्णय करे और फिर उनके कहे हुये उपायको करे तो रोग दूर हो जाय, दुःख टले और सुखी हो जाय। इसका क्या उपाय है वह आगे कहते हैं।

इच्छा ही रोग है; इच्छा उसीके होती है जिसको कोई दुःख हो, उस दुःखसे छूटनेके लिये उसके इच्छा होती है। इसलिये जो इच्छा करता है वह दुःखी है। इच्छा नामका रोग अनादि-कालसे जीवके साथ लगा हुआ है। आत्माके जो पर वस्तुकी

इच्छा है सो रोग है। जैसे किसीके मृगीका रोग हो और वह बहुत समयसे गलत उपचार कर करके थक गया हो किन्तु जब वह उस उपायको गलत जानले तब सच्चा उपाय करता है।

प्रश्नः—हमारे उपाय तो सत्य ही हैं, हम सुखके लिए धन प्राप्त करनेका उपाय करते हैं और धन मिलता है तो फिर हमारे उपाय गलत कैसे कहलायेंगे ?

उत्तरः—इच्छाके दुःखको दूर करनेके लिये यह उपाय बिलकुल गलत है। धन मिला कि दूसरी इच्छा आकर खड़ी हो गई। रुपया मिला, बड़प्पन मिला और स्त्री पुत्र मिले, किन्तु जहाँ मरणका समय आया वहाँ जीवनकी इच्छाका दुःख होता है, लेकिन जब आयु ही पूर्ण होगई तब वहाँ धन इत्यादिक कोई भी सहायक नहीं हो सकता और यह जीव अपनी पहचानके बिना ममतासे मरकर चींटी, कौआ, बन्दर इत्यादिमें जन्म लेता है। देख तो सही तेरा कौनसा उपाय सच्चा है ? परवस्तुकी इच्छा ही रोग है। अपने सुखके लिए परवस्तुकी इच्छा की, इसका अर्थ यह हुआ कि उसने अपनेको शक्तिहीन सुखहीन मान लिया। उसे यह भान नहीं है कि सुख आत्मामें ही है, इसलिये आत्माके अतिरिक्त परवस्तुको ग्रहण करनेका भावरूपी इच्छाका रोग अनादिकालसे लगा हुआ है। अनन्त उपाय करने पर भी वह रोग अभी तक नहीं मिटा और इच्छाका दुःख तो हो ही रहा है इससे सिद्ध हुआ कि वह उपाय ही गलत है। सुखके लिये पर-वस्तुकी इच्छा यह सुखका सच्चा उपाय नहीं है।

कंपवायुका रोगी जब यह जानले कि रोग मिटानेके लिये

पूर्वकृत सभी उपाय गलत हैं। मेरा शरीर वायुके रोगसे कांप रहा है और यह भी जानले कि वायुरोगका अच्छा वैद्य कौन है? जो नाड़ी–विशेषज्ञ हो, रोगीकी शक्ल देखकरके ही रोगके स्वरूपको समझले, ऐसे वैद्यके पास पहुँचकर उसकी औषधि ले तो वह अच्छा हो जाय। कोई कोई वैद्य अच्छे विशेषज्ञ होते हैं। एक वैद्य ऐसे निपुण थे कि उनने एक महिला—जो पानीका घड़ा सिर पर रखे हुये चली आरही थी, उसकी सूरतको देखकर ही जान लिया कि इस महिलाको अमुक रोग है, जिससे वह घर नहीं पहुँच पायेगी और अभी रास्तेमें ही मर जायगी। इसलिये उनने अपने साथीसे कहा कि इसके सिर परसे घड़ा उतार लो। साथी घड़ा उतारनेके लिये आगे बढ़ा ही था कि वह महिला अकस्मात् धरती पर गिर पड़ी और वहीं मर गई। जिसे इसप्रकार स्वाश्रयी ज्ञान हो और जो यह भली भांति जानता हो कि रोग क्या है? निरोग क्या है? औषधि क्या है? और पथ्य क्या है? वही सच्चा वैद्य है।

यहाँ पर उक्त दृष्टान्तमें भी ऐसे वैद्यको ग्रहण नहीं किया है, जो रोगीके आनेपर पुस्तकमें रोगका नाम देखकर उसके रोगको जानने बैठे, किन्तु यहाँ स्वाश्रित जानकार वैद्यसे मतलब है। साथ ही यहाँ पर उस रोगीको लिया है जिसे अपना रोग मालूम हो गया हो और अपने किये गये उपायोंको जो गलत मान रहा हो तथा जिसे वैद्यके प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो गई हो, और अपने जैसे जिस रोगीका रोग दूर हो गया है उसके चेहरेको देखकर जिसे उत्साह उत्पन्न हो गया हो कि जैसे इसका

रोग दूर हो गया है उसीप्रकार मेरा भी रोग दूर हो जायगा, और जिसे यह भी निश्चय हो गया हो कि इस वैद्यको भी पहले मेरे जैसा ही वायुका रोग था जिसे मिटाकर वैद्य स्वयं नीरोग हुआ है, इसलिये इसके बताये गये उपायसे मेरा भी रोग दूर हो जायगा। इसप्रकार की श्रद्धासे वैद्यके पास जाता है उसका रोग अवश्य दूर होता है। बिना वैद्यके रोगका दुख दूर नहीं होगा। इसलिये रोगको व सच्चे वैद्यको (देव गुरुको) पहचानना चाहिये।

आत्मा अखण्ड, अकंप, स्थिरस्वरूप है, उस अकंपस्वरूपको भूलकर परवस्तुकी इच्छारूपी कंपवायु हो जाती है, इस आत्माको वह इच्छारूपी वायुरोग अनादिकालसे लगा हुआ है, उस रोगको दूर करनेवाला वैद्य अर्थात् सच्चा गुरु कौन है ? वह उसके लक्षणोंसे ठीक ठीक जान लेना चाहिये। क्योंकि 'अजान वैद्य यमके समान' कहा गया है। इसलिये जब तक सच्चे वैद्यका (यहाँ पर वैद्यके स्थान पर देव गुरु समझना चाहिये) सुयोग न मिले तब तक यही अच्छा है कि औषधि ही न ली जाय। क्योंकि कुवैद्यकी औषधि लेनेसे उलटा दुःख बढ़ जाता है। सच्ची औषधि न मिले, इसलिये कहीं विष नहीं ले लिया जाता। सच्चा उपाय न मिले, इसलिये विपरीत उपाय नहीं किया जाता। इस जीवको जिसका लक्षण आकुलता है ऐसा अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग अनादिकालसे सदा बना हुआ है। हाँ, कभी कभी आकुलता कम हो जाती है तो कभी कभी बढ़ जाती है, किन्तु अज्ञानजनित इच्छा नामका रोग व दुःख तो सदा एकसा बना ही रहता है।

यदि किसी भव्य (योग्य) जीवको ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमसे और पुरुषार्थ करनेके लिये उद्यत होनेसे यह ज्ञात हो जाय कि "इन परविषयोंके सेवनसे मुझे शांति नहीं मिली और पचेन्द्रियके विषयोंमें सुखका अनुभव नहीं हुआ।" तथा वह यह भी जानले कि मेरे अभी तकके उपाय असत्य थे, तब वह सच्चे उपायोंका निश्चय करके यह निर्णय करता है कि मुझे जैसे भी बने वैसे इच्छा नामके रोगको मिटानेके लिये सत्य धर्मका साधन करना चाहिए। मेरा सुख मेरेमें है, मेरा सुख बाह्यमें नहीं है, इसलिये बाह्यवस्तुकी इच्छा सुखके लिये व्यर्थ है।

मुझे परसे लाभ होगा यों मानकर जो परद्रव्यकी इच्छा करता है वह अज्ञानजनित इच्छा है, उस इच्छारूपी रोगको मिटानेका उपाय सत्य धर्म है। और वह उपाय उनके द्वारा जाना जा सकता है जिनके पहले इच्छारूपी रोग था और फिर जिनने आत्माकी पहिचान करके तथा सत्य धर्मका साधन करके उस इच्छारूपी रोगका सर्वथा नाश किया हो। जितने भी सिद्ध, केवली-अरहंत हुये हैं उन सबको भी पहले यह रोग था। अज्ञानदशामें वे भी दुःखमें पड़े थे, किन्तु बादमें सच्चे स्वरूपका भान करके और शुद्धोपयोगरूप सत् धर्मका साधन करके वीतराग हो गये, इच्छा रहित हो गये। वे सर्वज्ञ भगवान ही सच्चे वैद्य हैं।

राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान और वीतराग-दशारूप निरोगता, इन सबका प्रारम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण ज्ञान सर्वज्ञको ही होता है और वे ही दूसरोंको यह सब बतलाते हैं, इसलिये सर्वज्ञ भगवान ही परम वैद्य हैं। उनके द्वारा दिखाये गये सम्यक् मार्गका सेवन करना चाहिए। ❀

प्रवचन : ५

सर्वज्ञदेवकी पहचान करनी चाहिए

इस सत्तास्वरूप ग्रंथमें मुख्यतया सर्वज्ञकी सत्ताका निर्णय करनेका व गृहीतमिथ्यात्वके त्यागका उपदेश दिया गया है। गृहीतमिथ्यात्व अर्थात् ग्रहण की गई विपरीत मान्यता; जन्म होनेके बाद जो विपरीत नई बात ग्रहण कर ली गई है उसे छुड़ानेकी बात सत्तास्वरूपमें खास कही गई है। अनादिकालसे जो विपरीत बात ग्रहण की गई है उसे (अगृहीत मिथ्यात्वको) छुड़ानेका उपदेश समयसारमें किया गया है। यह जीव जबतक स्थूल मिथ्यात्वको छोड़नेकी बात नहीं समझ सकता तब तक सूक्ष्म मिथ्यात्व छोड़नेकी बात भी उसके समझमें नही आ सकती। स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर जो प्रेम है यदि उससे अधिक प्रेम वीतराग देव, गुरु, धर्म पर न हो तो समझना चाहिये कि उसके स्थूल गृहीत मिथ्यात्वका भी त्याग नहीं है।

जब तक सच्चे देव-गुरु और धर्मके प्रति भक्ति एवं तन, मन, धनको लगानेका उल्लास नहीं होता, तथा पूर्वदशामें माने गये कुदेवादिके लिये जितना तन, मन, धन व्यय करता था

उससे अधिक भक्ति तथा तन, मन, धन, अपने सच्चे देव, गुरु और धर्मके लिये व्यय नहीं करता तब तक समझना चाहिये कि उसके स्थूल मिथ्यात्वका त्याग नहीं है। स्थूल मिथ्यात्वके बिना सूक्ष्म मिथ्यात्व दूर नहीं हो सकता। इस जीवने पहले अनन्तबार स्थूल मिथ्यात्वका त्याग किया है, किन्तु सूक्ष्म मिथ्यात्वका त्याग आज तक कभी नहीं किया। जिसके स्त्री, कुटुम्ब इत्यादि पर, देव, गुरु, शास्त्रसे भी अधिक प्रेम हो, समझना चाहिये कि वह तीव्र मिथ्यात्वके महारोगमें सड़ रहा है। यदि कोई कहे कि हमें देव–गुरुके प्रति प्रेम तो है किन्तु उधर कुछ उत्साह नहीं होता, सो समझना चाहिये कि उसकी यह बात झूठ है; अरे भाई! तुझे अपनी स्त्री और बच्चोंके प्रति उत्साह होता है, उनके लिये तन, मन, धन खर्च करता है और उनके लिये अलग रुपया निकालकर रखता है, किन्तु यहाँ तुझे देव गुरुके प्रति उत्साह नहीं होता, तब क्या इसका यह स्पष्ट अर्थ नहीं है कि तुझे देव-गुरुके प्रति प्रेम नहीं है? यदि कोई देव–गुरुकी अपेक्षा स्त्री आदिके लिये अधिक उत्साहसे तन, मन, धन खर्च करे और देव गुरु धर्मके कार्योंमें निरुत्साह हो तो समझना चाहिये कि वह वीतरागको ठगता है, जिसका अर्थ यह है कि वह स्वयं अपनी आत्माको ही ठगता है। अपनेको वीतरागका सेवक कहलवाता है किन्तु वास्तवमें उसे वीतरागदेवके प्रति रुचि नहीं है, तब उसे शुभ–अशुभ निमित्तका भी विवेक करना नहीं आता तो वह शुद्ध उपादानको कैसे पहचानेगा? जबतक सच्चे देव और सच्चे गुरुके प्रति उल्लास उत्पन्न नहीं होता तब तक अन्तरंगमें गृहीत मिथ्यात्वका तीव्र पाप बना ही रहता है।

जिसने अनुमानादिके द्वारा भी अपने ज्ञानमें सर्वज्ञका निर्णय नहीं किया हो और वह प्रतिदिन भगवानके दर्शन करनेको जाता हो तो उसको शुभभाव है किन्तु वह वीतरागका परमार्थ सेवक नहीं है। वीतरागका सच्चा सेवक कब बन सकता है? भगवानका दास कब हो सकता है? और भगवानके द्वारा कहे गये तत्त्वोंका श्रद्धान कब कर सकता है, तब, जब कि यह जानले कि भगवानने शास्त्रमें क्या कहा है? और अनुमानादिसे सर्वज्ञके स्वरूपका सच्चा निश्चय हो गया हो; तीन लोक और तीन काल बदल जाय किन्तु उसका निर्णय न बदले ऐसी दृढ़ श्रद्धा हो गई हो; वही तत्त्वकी परमार्थ श्रद्धा कर सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि जिसके तत्त्वस्वरूपका निर्णय है वही वीतरागका सच्चा सेवक है, वही सच्चा जैन है। जिसे सर्वज्ञके सच्चे स्वरूपका निर्णय नहीं हुआ है तथा विशेष साधनका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ है, वह बिना निर्णयके किसका सेवक बनकर दर्शन करता है? और किसका जप करता है? अर्थात् जिसे सर्वज्ञके स्वरूपका निर्णय नहीं है वह वीतरागका सेवक नहीं है। वीतराग सर्वज्ञ परमात्माने जो तत्त्व कहा है उसकी जिसे पहचान नहीं है और जिसे ज्ञानमें निर्णय नहीं हुआ है और जो कहता है कि न जाने सर्वज्ञ कैसे होते होंगे? हमें जब केवलज्ञान होगा तब सर्वज्ञका निर्णय कर लेंगे, तो समझना चाहिये कि यों कहनेवालेके सर्वज्ञ-की श्रद्धा ही नहीं है, उसे तत्त्वका निर्णय ही नहीं हुआ—वह जैन नहीं है, वह सर्वज्ञको ही नहीं पहचानता, आत्माको नहीं पहचानता।

सर्वज्ञदेवने विशेष साधनका अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-

चारित्रका स्वरूप बताया है; जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय बताया है, जिसे सुनकर यह ख्यालमें आजाता है कि अहो ! सर्वज्ञदेवके सिवाय इस स्वरूपको दूसरा कोई नहीं कह सकता। अरहन्त भगवानका स्वरूप ऐसा ही होता है, ऐसे सर्वज्ञ-देवका निर्णय किये बिना किसके दर्शन करता है ?

अनन्त सर्वज्ञने धर्मका एक ही मार्ग कहा है, धर्मका दूसरा मार्ग हो ही नहीं सकता। सर्वज्ञदेवने आत्माका परमार्थ अर्थात् स्वरूपकी शांति उसका सच्चा मार्ग तीनों कालमें एक ही प्रकार-का बताया है, ऐसे सर्वज्ञका निर्णय किये बिना किसका सेवक बन गया और किसका जप करता है ? जिसका तूं दर्शन करता है और जप करता है उस अरहन्तदेवको तो तूं जानता ही नहीं है तो फिर किसकी भक्ति करता है ?

इसके उत्तरमें कोई कहते हैं कि हमारे बाप-दादा जो मानते आरहे हैं वह हम भी मानते हैं तथा हमारे माने हुए गुरु जो कहते थे हम वही मानते हैं और हमारी जातिके अग्रगण्य पुरुष तथा हमारा संप्रदाय इन्हीं देवको मानते हैं इसलिये हम भी मानते हैं और हम सर्वज्ञ की पूजा दर्शन इत्यादि धर्मबुद्धिसे करते हैं तथा अरहन्तदेवको ही देव मानकर उनकी पूजा और जप करते हैं। अरहन्तके सिवाय दूसरे देवको हम नहीं मानते। पांचसौ या हजार वर्षसे हमारे बाप-दादाओंसे जो प्रथा चली आरही है उसीके अनुसार हम भी चलते हैं और इसी मार्गसे हमें भी मोक्ष मिल जायगा। इसप्रकार कुछ लोग मात्र अपने कुल समुदाय या संप्रदायके आश्रयसे अथवा मूढ़मतिसे अपनेको धर्मी मान बैठे हैं,

किन्तु सर्वज्ञदेवका यथार्थ स्वरूप वे नहीं समझते, वे मात्र नामधारी जैन हैं, अज्ञानी हैं, जैनधर्मके सच्चे रहस्यकी उसे पहचान नहीं है।

उनके लिये शास्त्रकार कहते हैं कि सुनो भैया ! अरहन्तदेव तो सच्चे हैं ही; किन्तु जब तक तुम्हारे ज्ञानमें उसकी सत्यता प्रतिभासित नहीं हो जाती तब तक तुम उसके सच्चे सेवक नहीं हो। सर्वज्ञके स्वरूपका निर्णय किये बिना कोई उसका सच्चा सेवक नहीं हो सकता। जैसे तुम अपने कुलधर्मके अनुसार अथवा पंचायतके नियमानुसार अपने देवको धर्मबुद्धिसे मानते हो उसीप्रकार अन्यधर्मावलम्बी भी अपने कुलादिके अनुसार माने गये कुदेवको धर्मबुद्धिसे पूजते हैं, तब तुममें और उनमें क्या अन्तर रहा ?

अन्यमति सच्चे देवका स्वरूप नहीं जानता, वैसे तू भी यदि सच्चे देवका स्परूप नहीं जानता, तो अरिहंतदेवकी विशेषता तो तेरे जाननेमें न आई। तूं अरिहंतदेवको मानता है, किन्तु अरिहंतदेवकी यथार्थता कैसे है वह तो जानता नहीं, तो अपने सच्चे देवका स्वरूप जाने बिना तेरेमें और अन्यमतीमें कौनसा अन्तर रहा ? संसारमें तो सब कहते हैं कि हमारे देवके समान संसारमें अन्य कोई देव नहीं है, इसप्रकार अन्य मती भी अपने माने देवको सच्चा मानते हैं और तुम भी अपने माने हुये देवको सच्चा देव मानते हो; किन्तु उसके स्वरूपको नहीं जानते हो तब फिर बताओ कि तुममें और उसमें क्या अन्तर है ?

यदि कोई यों कहे कि अरहंतदेव और उनका दिगम्बर जैनधर्म ही सत्य है किन्तु जो बापदादोंसे चला आरहा है उसे

हम कैसे छोड़ें ? तो उसके लिये कहते हैं कि अरे मूर्ख ! तेरे बापदादा निर्धन हो तो फिर तू वह निर्धनताको बदलकर और धनवान होकर बापदादा में फर्क क्यों पैदा करता है ? यहाँ यह क्यों नहीं कहता कि हमारे बापदादाके पास इतना धन था, इसलिये मैं इससे अधिक न रखूँगा। तेरे बापदादा जो धर्म मानते थे, उनसे भी यदि अच्छा और सच्चा धर्म मिलता है और तू उसे नहीं मानता तब समझना चाहिये कि तुझे धर्मको रुचि ही नहीं है। समयसारकी बात अलौकिक है किन्तु जो पहले देव-गुरु-धर्मके ही स्वरूपको नहीं समझता उसके तो स्थूल मिथ्यात्वका भी त्याग नहीं है; और यदि कोई जीव मात्र देव, गुरुके शुभरागमें ही रुक जाय तो भी उसे आंतरिक स्वरूप समझमें नहीं आ सकता। यहाँ निश्चय–व्यवहार की बातका मेल करके मोक्षमार्गी होनेकी बात कही गई है। जैसे दूसरे लोग, बिना समझे ही कार्य किया करते हैं उसीप्रकार यदि तू भी किया करे तो तुझमें और दूसरोंमें कोई फरक ही नहीं कहलाया। सच्चे देव–गुरुके पहचाने बिना तुझमें तथा अन्य धर्मोंमें कोई फरक ही नहीं रहा। इसलिए सर्वज्ञदेवकी पहचान करनी चाहिए।

यहाँ कोई अज्ञानी तर्क करता है कि:–हम तो सच्चे जिनेन्द्र अरहन्तदेवकी सेवा पूजा करते हैं, हमारे देवको केवलज्ञान है, हम उसकी भक्ति करते हैं। हम सच्चेदेवको ही मानते हैं, और अन्य धर्मावलम्बी तो मिथ्यादेवको मानते हैं, उनकी पूजादि करते हैं। इसप्रकार उनमें और हममें इतना फरक तो है ही। उसके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे दूसरे लोग अपने देवको समझे

बिना मानता है, तू अपने देवके सच्चे होने पर भी उन्हें पहचानता नहीं है इसलिये दोनों एकसे ही हो। उदाहरणके रूपमें जैसे दो अज्ञानी बालकोंमेंसे एकको कांच मिला और दूसरेको हीरा मिला (काँच कुदेवके स्थान पर है और हीरा सच्चेदेव-के स्थान पर है), दोनों ने श्रद्धापूर्वक अपने अपने वस्त्रकी गांठ में उन्हें बांध लिया, किन्तु उन दोमेंसे किसीको भी कांच और हीरा की पहिचान नहीं है। यद्यपि जिसकी गांठमें हीरा है वह हीरा ही है और जिसकी गाँठमें कांच है वह काँच ही है, किन्तु दोनोंमेंसे किसीको यथार्थ ज्ञान ही नहीं है, इसलिये दोनों समान ही हैं, दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। उसीप्रकार तू सच्चे हीरे जैसे जिनेन्द्रदेवको मानता है किन्तु तुझे उनके स्वरूप की खबर नहीं है तो तुझमें और दूसरेमें कोई फरक नहीं है। दूसरे अज्ञानियोंको कुदेव मिला है और तुझे सच्चा देव मिला है किन्तु सच्चे देवकी तुझे परीक्षा नहीं है इसलिये तू और दूसरे सब समान ही हैं।

प्रश्नः—कोई कहता है कि हमें एकदम इसप्रकार क्यों उड़ा रहे हो, हम अनेक वर्षसे बराबर परिश्रम करते चले आ रहे हैं, हमारी कुछ भी तो रखो ?

उसके समाधानमें कहते हैं कि भाई ! तूने क्या किया है ? तूने कूलरूढ़िसे प्राप्त सच्चे देवको माना किन्तु सच्चे देवके स्वरूपको नहीं जानता; जबतक सच्चेदेवके यथार्थ स्वरूपको नहीं जान लोगे तबतक तुममें और अन्य लोगोंमें वास्तवमें कोई अन्तर नहीं होगा।

अज्ञानी कहता है:—दूसरे धर्मावलम्बी कुदेवको मानते हैं इसलिये उनके गृहीतमिथ्यात्व है और हम सच्चे देवको मानते हैं, उनका दर्शन, पूजन, भक्ति इत्यादि किये बिना कभी कुछ नहीं खाते पीते, इसलिये आप इतना तो कह दीजिये कि हमारा गृहीत-मिथ्यात्व छूट गया है। कुदेवोंके प्रति जो आकर्षण था वह छूट गया इसलिए हमारा गृहीतमिथ्यात्व तो छूट गया और हमें उतना तो लाभ हुआ ?

उसका उत्तर:—भाई ! तुम्हें अभी गृहीतमिथ्यात्वके स्वरूप की ही खबर नहीं है। सर्वज्ञवीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु, तथा वीतराग द्वारा कहे गये शास्त्र एवं धर्मका स्वरूप जब बाह्य लक्षणों द्वारा निश्चित किया जाय और उनकी यथार्थता प्रतिभा-सित होजाय तथा उनके सबंधमें विपरीतता छूट जाय तभी गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। किन्तु बाह्य लक्षणोंके द्वारा देव, गुरु धर्मको पहिचाने बिना यदि कोई सच्चे देवको भी माने और दूसरेको न माने तो भी इतनेसे उसके गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट जाता; यहाँ तो अभी गृहीतमिथ्यात्वके छोड़नेकी बात है, अगृहीत मिथ्यात्वके छोड़नेकी बात तो गृहीतमिथ्यात्वके छोड़नेके बाद आती है।

आत्मा परिपूर्ण, निर्मल ज्ञानस्वरूप है, रागका एक अंश भी मेरे स्वरूपमें सहायक नहीं है, पुण्य करते-करते धर्म नहीं होता, मैं शरीरादिकका कुछ भी नहीं कर सकता, इसप्रकार यदि स्वतंत्र आत्मतत्त्वकी प्रतीति हो जाय तो वह अनन्त संसारके परिभ्रमणको नष्ट कर देनेवाली होती है, अर्थात् वह मुक्तिका

कारण होती है। किन्तु वह प्रतीति कब होती है? जबकि पहले सच्चे देव गुरु धर्मको पहचानकर, जन्मके बाद देव-गुरु-शास्त्र सम्बन्धी ग्रहण की गई विपरीत मान्यताको छोड़ दें, इसके बाद ही अनादिकालसे चली आई विपरीत मान्यता छूट सकती है। गृहीतमिथ्यात्वके छूटे बिना किसीका भी अगृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट सकता।

अरे रे! यह मनुष्य जीवन और उसमें भी सर्वज्ञका जैन-धर्म तथा सर्वज्ञका यह मार्ग मिला, फिर भी अभी तक तू सच्चे देवके स्वरूपको भी न पहचाने तो तेरा उद्धार कैसे होगा? उद्धारका इससे अधिक अच्छा अवसर तुझे कहां मिलेगा? पुनः पुनः ऐसा अवसर मिलना दुर्लभ है। इसलिये तूं तत्त्वनिर्णयका व सम्यग्दर्शनका प्रयत्न कर।

अरे जीव! थोड़ा सा भी दुःख तुझे असह्य लगता है तब फिर अनन्त तीव्र दुःखोंके कारण रूप मिथ्यात्वका सेवन तूं क्यों कर रहा है? यदि घोर संसार दुःखोंसे छूटना चाहता है तो मिथ्यात्वका सेवन छोड़, और वीतराग सर्वज्ञदेवकी व अपने आत्मस्वरूपकी पहचान कर ..जिससे परम मोक्षसुखकी तुझे प्राप्ति होगी।

प्रवचन : ६

अर्हन्तदेवका सच्चा सेवक कैसा होता है ?

卐

कोई कहता है कि हम अरहन्त भगवानको देवके रूपमें मानते हैं; कृपया यह बतलाइये कि अरहंत भगवानको देवके रूपमें स्वीकार करनेका यथार्थ लक्षण क्या है ?

उसके उत्तरमें कहते हैं कि अरहंत देवका सच्चा सेवक होनेके लिये सर्व प्रथम विपरीत आग्रहका त्याग और यथार्थ देव–गुरुके प्रति सच्ची प्रीति–भक्ति होनी चाहिये। तब यथार्थ व्यवहारशुद्धि हुई कहलायेगी, यह बात सभीके लिये लागू होती है।

सच्चे वीतराग देव, उनके द्वारा कहे गये सच्चे अनेकान्त शास्त्र और निर्ग्रंथ गुरुको पहिचान कर उनके प्रति जबतक प्रीति उत्पन्न नहीं होती तबतक व्यवहारशुद्धि भी नहीं होती; उसके यथार्थ निमित्त भी नहीं हैं।

प्रश्न–अरहंत वीतराग परमात्मा किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो एक समयमें तीनकाल और तीनलोकको जानता है और जिसके रत्नत्रयकी परिपूर्ण शुद्धता प्रकाशित

होगई है वह वीतराग सर्वज्ञ अरहंत देव है। यदि कोई ऐसे अरहन्तदेवके स्वरूपको बाह्य लक्षणों द्वारा भी जाने बिना माने, और कुदेवादिको न माने, तो भी उसके बाह्यशुद्धि हुई नहीं कही जा सकती, क्योंकि जिस देवको वह मानता है उस देवके स्वरूप को तो वह जानता नहीं है।

प्रश्न—यह कब कहा जायगा कि सच्चे देवकी यथार्थ मान्यता हो गई है ?

उत्तर—पहले गृहीत मिथ्यात्वदशामें जिसप्रकार अन्य-कुदेवादिके लिये तन, मन, धन इत्यादि लगाये रहता था, यदि वीतराग देव शास्त्र गुरुके लिये उससे भी अधिक तन, मन, धन अर्पित करनेका उल्लास जागृत नहीं होता तो समझना चाहिए कि वह 'ठग भगत' है। वास्तवमें वह वीतरागका भक्त नहीं है, उसका गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूट पाया। अरहंतदेवकी शरणके बिना आत्माको नहीं पहचाना जा सकता।

जिसने शुद्ध आत्मस्वरूपका भान करके स्थिरता द्वारा चार घातिया कर्मोंका नाश करके सर्वज्ञता प्राप्त करली है ऐसे अरहंतदेवका भक्त कब कहा जा सकता है ? इसकी यह बात है। जबतक बाह्य लक्षणोंसे सच्चे देवको न पहिचाने और कुदेवादिकी मान्यता छोड़कर सच्चे देव, गुरुके प्रति भक्ति और उल्लास न आये तबतक व्यवहारशुद्धि भी नहीं होती और वह व्यवहारसे भी सच्चे देवका भक्त नहीं है—जैन नहीं है।

प्रश्न—आप बारम्बार कहते हैं कि कोई परद्रव्यका कुछ नहीं कर सकता, मात्र निमित्त होता है तब फिर यदि लड़केका

पुण्य हो और हम उसके लिये धनादि संग्रह करनेमें निमित्त हों तो इसमें गृहीतमिथ्यात्व कहां से आगया ?

उत्तर–भैया ! देव गुरुकी अपेक्षा यदि स्त्री कुटुम्ब आदिके प्रति अधिक राग हो जाय तो उसके धर्मका प्रेम नहीं किन्तु संसारका प्रेम है इसलिए उसको गृहीतमिथ्यात्व ही है। स्त्री कुटुम्बके प्रति राग होता है तब कहता है कि मैं निमित्तमात्र था तब फिर भगवानकी भक्ति और शास्त्रप्रभावना आदिमें निमित्त क्यों नहीं हूआ ? देव-शास्त्र–गुरुकी प्रभावना इत्यादिके कार्योमें कंजूसी करता है, वहाँ उल्लास नहीं होता और लड़केकी शादीके समय कंजूसी नहीं करता, लड़केके विवाहके समय जागरण करता है, चिल्लाते चिल्लाते गला बैठ जाता है। चाहे जो हो किन्तु उल्लासमें कमी नहीं आने देता; तब तूं ही सोच कि तूं किसका भक्त है ? देव गुरुकी पहिचानके बिना जीव संसारमें ही रुलेगा। अरहन्तदेवकी सच्ची पहिचान और भक्तिके प्रगट हुये बिना जीव संसार समुद्रमें मगरके मुखमें पड़ा है। जब घरमें कोई बुड्ढा–बुड्ढी मर जाते हैं तब जगतमें अपनी प्रतिष्ठाके खातिर कारज (·मृत्यु.भोज) करता है–लोगोंको भोजन कराता है, उसमें खूब धन खर्च करता है, संसारमें अपनी नाक (प्रतिष्ठा) रखनेके लिये 'नवकूखाँ' सब कुछ करता है किन्तु जब वीतराग भगवानकी भक्ति पूजा, धर्मप्रभावना, शास्त्रप्रचार इत्यादिकी बात आती है तब कहता है कि उसमें आरंभ होता है, लेकिन भाई ! पुण्य पाप अन्दरके शुभाशुभ भाव पर निर्भर होता है कि बाह्य क्रिया पर ? क्या अपने स्त्री पुत्रादि-

के प्रति राग करनेमें तुझे पाप नहीं लगता ? स्त्री पुत्रादिका पोषण करनेका भाव तो विषैले सर्पको पोषण करनेके बराबर है, फिर भी तुझे उनमें उल्लास आता है। और धर्मके पोषणका पुण्यभावमें तुझे उल्लास नहीं आता, तो तू पापमें ही मग्न है। जो धर्मात्मा होते हैं वे देव, शास्त्र, गुरुकी प्रभावना भक्ति इत्यादि कार्योंमें उल्लासके मारे हृदयसे उछल जाते हैं कि अहो ! मेरा अवतार धन्य होगया, मेरे अन्तरमें त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवान विराजित हैं, मैं सर्वज्ञदेवका भक्त हुआ, देव शास्त्र गुरुका दासानु-दास हुआ यह मेरा बड़ा भाग्य है। इसप्रकार अपने अन्तरंगमें देव गुरुकी स्थापना करता है और जब अपने आत्मदेव अपनेमें स्थापित कर लेता है तब तो जन्म–मरणका नाश ही हो जाता है।

मिथ्यात्वकी भूमिकामें सच्चा व्रत, तप नहीं होता, किन्तु वीतरागदेव, गुरु, धर्मकी पहिचान और उनके प्रति बहुमानका शुभराग होता है, वह सुबह की संध्याके समान है और इसके बिना संसार सम्बन्धी दया, दान, सेवा इत्यादिका शुभराग सायंकालीन संध्याके समान है, जिसके पीछे अँधेरा है। अर्थात् जिसके पीछे प्रकाश होगा वह शुभभाव अल्पकालमें ही अस्त हो जायगा; और वीतरागदेव-गुरु-धर्मके प्रति जो शुभराग है वह प्रातःकालीन संध्याके समान है। उसके पीछे (अर्थात् स्वभावमें उस शुभराग-का भी जब इन्कार करता है तब) शुद्धताका प्रकाश होता है। यहाँ लौकिक शुभरागकी बात नहीं है किन्तु भगवानके ऊपर होने वाले शुभरागकी बात है, वह शुभराग भी मैं नहीं हूँ इसप्रकारका निर्णय हुये बिना जन्म–मरणका अंत नहीं होता। किन्तु

साथ ही पहले देव–गुरुके प्रति शुभराग और भक्ति इत्यादिके हुये बिना भी जन्ममरण दूर नहीं होता।

प्रथम गृहीतमिथ्यात्वके समय जब कुदेव कुगुरुको मानता था और उनके लिये तन मन धन लगाये रहता था उस समय कंजूसी नहीं करता था, वैसे अब सच्चे देव-गुरुको पहिचान कर उनके लिये पहलेसे भी अधिक उत्साहसे तन मन धन व्यय करता है तब उसके गृहीतमिथ्यात्वका अर्थात् स्थूल पापका त्याग होता है।

प्रश्न–आपने कहा कि 'पहले कुदेवादिके लिये जो खर्च करते थे उससे अधिक सुदेवादिके लिये खर्च करना चाहिये', किन्तु यदि हमने आज तक कुदेवादिके लिये भी कुछ नहीं किया हो और अब उसीप्रकार सुदेवादिके लिये भी कुछ न करें तो हमारे लिये गृहीतमिथ्यात्वसे छूट्टी मिल जायगी या नहीं ?

उत्तर–पहले तुमने खर्च नहीं किया था सो ठीक, किंतु अब तुम वीतरागदेवको मानते हो या नहीं ? यदि मानते हो तो कुदेवादिको माननेवाले अन्य लोग कुदेवादिके लिये जितना उत्साहपूर्वक खर्च करते हैं यदि तुम सुदेवादिके लिये उससे अधिक उत्साहपूर्वक खर्च नहीं करोगे तो कहना होगा कि तुम्हारा गृहीतमिथ्यात्व नहीं छूटा है। यदि कोई अच्छा अन्य धर्मी होता है तो वह भी अपनी आमदनीका अमुक भाग अपने माने हुये देव इत्यादिके लिए अलग निकाल लेता है और तुझे अपने वीतरागदेव गुरु-धर्मके लिये उल्लास नहीं होता और उनके लिये तन मन धन अर्पित नहीं करता तब तो तू उनसे भी गया बीता

है। तुझे तेरे धर्मका उत्साह नहीं; जैनधर्मकी महिमा तूने जानी नहीं।

व्यवहारमें लड़केकी शादी इत्यादिक कार्योंमें धन खर्च करता है, वहाँ तन, मन, वचन और समय सब लगाता है और यहाँ पर देव-गुरुकी भक्ति, प्रभावना इत्यादिके कार्योंमें 'शेखीखोर' केवल मुँहसे बातें करता है, किंतु उत्साहसे प्रवर्तता नहीं है फिर भी अपनेको अरहंतदेवका भक्त कहलवाता है लेकिन वह सच्चा भक्त नहीं है।

भाई! अरहंतदेव, गुरु, धर्मकी सच्ची प्रीति तो तभी कहलायगी जब सच्चे देव, गुरु धर्मकी भक्ति प्रभावना आदि कार्योंमें संसारसे अधिक भक्ति और उल्लासके साथ लग जाय, अन्यथा उसके गृहीतमिथ्यात्वका त्याग भी नहीं कहा जायगा; और मुक्तिका मार्ग उसको नहीं मिलेगा। मुक्तिका मार्ग दिखाने वालोंके प्रति जिसे भक्ति नहीं उसको मुक्तिका मार्ग कहांसे मिलेगा?

जो लौकिक हैं और जिनमें देवत्वकी कुछ भी योग्यता नहीं है, ऐसे बिलकुल मिथ्यात्वी कुदेवादिको मानता था तथा उनमें तन, मन, धन, बुद्धि और श्रद्धा आदिक अर्पित करता था, एवं अपने माने हुये उन कुदेवादिके लिये प्रथम दशामें क्रोधादि कषाय भी करता था और वर्तमानमें तेरी बराबरीके दूसरे लोग हैं (यहाँ मान्यताकी अपेक्षासे समानता नहीं है, किंतु तन मन धन इत्यादिके संयोगकी अपेक्षासे बराबरी है,) वे अपने माने हुये कुदेवादिके लिये राग करते हैं तो अब व्यवहार शुद्धिमें आकर तुझे जिनेश्वर देवाधिदेव अरहंतदेव, निग्रंथ गुरु और सम्यक

शास्त्रों की पहचान करके उनके लिये पहलेसे भी अधिक तन मन धन श्रद्धा भक्ति और ज्ञान इत्यादिक लगाना चाहिये।

अरहन्तका प्राथमिक भक्त भी कैसा होता है—अर्थात् बाह्य जैनी कैसा होता है, इसकी यह बात है। यह तो वीतराग-का मार्ग है, इसमें दूसरी बात नहीं चल सकती, इसलिये जो वीतराग मार्गसे विरुद्ध है वह सब छोड़ दे तभी वीतरागका मार्ग समझमें आ सकेगा। अनेकबार कहा जाता है कि—

'प्रभुके मारग है शूरोंका; नहिं कायरके काम'

सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वर अरहन्तदेवका सेवक होनेके लिये सारे संसारकी दरकार छोड़ देनी होती है, अर्थात् जगत की परवाह छोड़ देनी होती है। समस्त संसारकी प्रतिकूलता आजाय तो भी भगवान अरहन्तदेवकी श्रद्धा और भक्ति नहीं छोड़ना चाहिए। अपने पुरुषार्थसे संसारकी ओरका अशुभभाव नष्ट करके सच्चे देव और गुरुके प्रति श्रद्धा भक्ति, पूजा और विनय इत्यादिक शुभभाव हुये बिना गृहीतमिथ्यात्व भी दूर नहीं होता, भगवानके भक्त भगवानको विराजमान करते हुये कहते हैं कि:—

"आवो आवो सीमन्धरनाथ अम घेर आवो रे,
रुडा भक्तिवत्सल भगवन्त नाथ पधारो रे;
हुँ कई विधि पूजूं नाथ कई विध वन्दू रे,
मारे आँगणे विदेहीनाथ जोई जोई हरखूं रे."

वीतरागदेवके प्रति भक्तिसे उल्लसित वीतरागका सच्चा सेवक कहता है कि हे प्रभु! हे नाथ! पधारिये....मेरे अन्तरके आँगनमें विराजिये। आपकी पूजा कैसे करूं? समस्त विश्वको

भूलकर मेरे असंख्यप्रदेशका कमल बनाकर आपकी पूजा करूं, या किसप्रकार पूजूं ? देखो भगवानके प्रति भक्तका कितना विनय है, भक्तिका कितना उल्लास है ? सर्व प्रथम वीतरागदेव, गुरुकी भक्तिमें सर्वस्व समर्पणता होनी चाहिये. इसके बिना वीतरागका भक्त नहीं कहा जा सकता। जो प्रतिकूलतासे डर जाता है वह भगवानका भक्त नहीं है। संसारमें भीड़ कैसी ? अरहन्तका भक्त कहीं भीड़ या प्रतिकूलता देखता ही नहीं है, वह तो अरहन्तका भक्त हुआ सो हुआ, अब अरहन्त पद लेकरके ही रहेगा। जो अरहंतका भक्त हुआ वह अरहन्त पद लिये बिना नहीं रहता, वह अरहन्त जैसा होगा ही होगा। ऐसा होता है अरहन्तका भक्त, यही है वीतरागका सेवक, और इसे ही कहते हैं जैन।

जिनेश्वरका भक्त कहता है कि हे जिनेश्वरदेव !

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंगसों,
भँग म पडशो हो प्रीत...जिनेश्वर
(उत्तरदायित्वके साथ कहता है कि-)
दूजा मन मन्दिर लाऊं नहिं
यह हम कुलवट रीत...जिनेश्वर...धर्म०

हे नाथ ! तेरे गुणोंकी भक्ति करनेके लिए उठा सो उठा, अब हमें विश्वमें कोई नहीं रोक सकता; अब इसमें भंग नहीं होगा। युद्धके लिये कटिबद्ध राजपूतका वीर्य छुपा नहीं रहता, वह अपनी एक मानके खातिर कितना पौरुष दिखलाता है ? तब फिर जिसकी इन्द्र चक्रवर्ती इत्यादि पूजा करते हैं और जिसके जन्मके समय तीन लोकमें प्रकाश हो जाता है ऐसे तीर्थंकर

वीतराग प्रभुको साथमें लेकर तथा उन्हें हृदयमें स्थापित करके उनका भक्त बने और कर्मको जीतने चले उसके पुरुषार्थकी तो क्या बात ? वह फिर हैं–हैं करने लगे, यह कैसे हो सकता है ? यह तो वीतरागका शासन है, कहीं पोपाबाईका राज्य नहीं है। एक ओर तो भगवानका भक्त कहलाये और दूसरी ओर वीतराग देव-गुरु–शास्त्र की प्रभावना आदिके लिये जब तन, मन, धन खर्च करनेकी बात आये तब हैं–हैं करने लगे तो वह वीतरागका भक्त नहीं है।

कई लोग भगवानके पास चाँवलादि चढ़ानेमें पाप मानते हैं, किन्तु वास्तवमें भक्त अन्तरके कैसे उच्चभावसे चांवलादि चढ़ाते हैं उसे वे नहीं समझते, क्योंकि उनको खुदको भगवानके प्रति भक्ति भाव नहीं है। पुण्य पाप बाह्य क्रियामें होता है या आंतरिक परिणामों पर आधार रखता है ? आत्माके जैसे परिणाम होते हैं–उन्हींके अनुसार पुण्य पाप होता है।

अभी यह तो जानता नहीं है कि निश्चय क्या है और व्यवहार क्या है, और व्यवहारशुद्धिके विना मात्र निश्चय की बातें करता है, वह अरहन्तका सेवक नहीं कहा जा सकता है। अरहन्तका सेवक होनेके लिये एक बार सभीकी परवाह छोड़नी होगी। जहां व्यवहारशुद्धिका तो ठिकाना नहीं है और अपनेको जैन मानता है वह भूलता है। निश्चयस्वरूप आत्माका अजर अमृत प्याला है। इसको पचानेके लिये सच्चे देव गुरु शास्त्रकी अंतरंग भक्तिसे उपासना चाहिए।

जो पहले कुदेवादिको मानता था वह बहुत बड़ा दूषण था, उस दूषणको छोड़कर हर्षपूर्वक जिनेन्द्रदेवकी भक्ति और

विनय करता है तब गृहीत मिथ्यात्व छूटता है। अधिक संपत्ति शालीका बहुमान करना यह कोई गुण नहीं कहलाता, वहाँ तो पैसेकी रुचिका भाव है। धर्मकी रुचिवालेको अधिक धर्मवानका बहुमान आता है।

संसारमें लड़के लड़कीकी सगाई विवाह आदिके लिये कितनी चिन्ता करता है और उसमें कितने उत्साहसे काम करता है? इसीप्रकार हे भाई! अरहंतदेव सर्वज्ञ वीतराग भगवान परम पिता, स्वरूपके अन्नदाता, तीर्थके स्वामी, धर्मनायक, धर्मदाता, धर्मसागर, देवाधिदेवको यदि तू हितवांछक देवके रूपमें स्वीकार करता है तो हर्षपूर्वक आंतरिक उल्लासके साथ उनकी भक्ति पूजा प्रभावना इत्यादि करना चाहिये। ऐसा नहीं कि कोई दूसरा काम करनेको बारबार कहें तब करे, किन्तु अपने आप ही अन्तरंग हर्षपूर्वक धर्म प्रभावनाके काम करना चाहिये, कि अहो यह मेरा घन भाग्य है कि मुझे यह कार्य करनेका लाभ मिला है। भला, ऐसा सुअवसर कब मिलता है? जो सच्चे देव गुरुकी हर्षपूर्वक भक्ति नहीं करता वह व्यवहारसे भी अरहन्तदेवका सेवक नहीं है अर्थात् वह बाह्य जैन भी नहीं है। जो अरहंतका सेवक होता है वह धर्मका काम आने पर हर्षके मारे उछल जाता है और कहता है कि—अहो धन्य भाग्य है कि मुझे यह काम मिला। मेरा शरीर, मेरा मन, मेरा राग, मेरी बुद्धि, मेरा वचन और मेरा धन इत्यादि सब भगवान परमेश्वर देवाधिदेवकी प्रभावना भक्तिके लिये काम आये; देव-गुरु-धर्मके लिये हमारा तन, मन, धन उपयोगमें आये तो वह सब सफल है, उसीमें हमारा अहोभाग्य है। इसप्रकार व्यवहार

से जिनदेवादिकका सेवक होकर, विचारपूर्वक व्यवहार सम्यक्त्व-के २५ दोषोंको नहीं लगाना चाहिये अर्थात् उन दोषोंका त्याग करना चाहिये। वे २५ दोष निम्नप्रकार हैं:—

(१) जातिमद—जातिका अभिमान नहीं करना चाहिये, किन्तु देव–गुरुका बहुमान करना चाहिये कि देव–गुरुसे बढ़कर जगतमें है ही कौन ? मैं तो उनका सेवक हूँ।

(२) लाभमद–धन इत्यादिका मद करना सो लाभमद है, लाभका अहंकार नहीं करना चाहिये।

(३) कुलमद–'हमारे कुल की सात पीढ़ियोंके सभी मनुष्य बड़े बड़े थे। इसप्रकार घमण्ड करना सो कुलका मद है। अरहंत-के सेवकके कुलमद नहीं होता किन्तु वह विनयपूर्वक यह विचार करता है कि हमारे देव सर्वज्ञ और वीतराग हैं। हम तो अरहतोंके कुलके हैं।

(४) रूपमद–शरीरकी सुन्दरताका घमण्ड करना सो रूप-मद है। रूपका अहङ्कार न करके यह विचार करे कि शरीरकी सुन्दरता प्रकृतिकी देन है, वह रूप मेरा नहीं है। मेरा रूप तो चैतन्यमय है।

(५) तपमद–ज्यादा उपवासादि करके उसका अभिमान करना सो तपमद है। आप उपवासादि करनेसे अपनेको बड़ा समझ लें और बडे बड़े ज्ञानीको अपनेसे हीन समझें यह मिथ्यात्व की तीव्रता है। जो अरहंतभगवानका भक्त है, उसके ऐसा मद नहीं होता।

(६) बलमद–शरीरके बलका अभिमान करना सो बल-

मद है। ज्ञानीके शरीरबलका मद नहीं होता, वह विचार करता है कि अरे, बल किसका ? यह शरीर आत्माका है ही कब ?

(७) विद्यामद—विद्याका अभिमान करना सो विद्याका मद है। अर्हंत देवका भक्त विद्याओंका अभिमान नहीं करता। चैतन्य विद्याको ही वह सर्वोत्कृष्ट समझता है।

(८) अधिकारमद—किसीप्रकारका लौकिक अधिकार मिलने पर उसका घमण्ड करना सो अधिकार मद है। बड़ा पद मिलना पूर्व पुण्यका फल है। हम प्रधान हैं, हम लक्षाधिपति हैं, हम समाजके मुखिया या अध्यक्ष हैं इसप्रकार पदवियोंका अहंकार नहीं करना चाहिये। आखिरकार त्रिलोकीनाथ अरहंतदेवके सामने तो तू रंक ही है। अरहन्तदेवकी सौ सौ इन्द्र पूजा करते हैं और उनके चरणोंमें रत्नजड़ित मुकुटमय मस्तकको नमाते हैं, उन मुकुटोंके एक एक रत्नकी कीमत पर चक्रवर्तीका राज्य न्योछावर हो सकता है। इन्द्रके सिंहासनके नीचेके पत्थरका मूल्य अरबों रुपयोंसे अधिक होता है, ऐसी ऋद्धिके स्वामी ३२ हजार विमानोंके धनी इन्द्र भी अरहन्तदेवके पास नम्रता, भक्ति भाव और उल्लासपूर्वक बालक की तरह नाचने लगते हैं; और वही इन्द्र जब अपनी इन्द्रसभामें इन्द्रासन पर बैठता है तब हजारों देवोंसे सेवित सिंह जैसा प्रतापी गम्भीर बन जाता है। ऐसे प्रतापी इन्द्र भी जब भगवान की पूजा करते हुये भक्ति भावसे नाच उठते हैं तब उनके सामने तेरे इस अधिकारकी कीमत ही क्या है ? इसलिए अधिकारका मद नहीं करना चाहिये। यहां तो अभी बाह्य जैनी कैसे हुआ जाता है इसकी बात है। यदि कोई

आत्माको पहिचानकर अंतरंग जैनी बने तब तो वह अपूर्व है।

(९-११) कुगुरु-कुदेव-कुधर्मकी सेवा करना सो मूढ़ता है। जिनेन्द्रदेवके भक्तके यह तीन मूढ़ताएँ नहीं होतीं। यहाँ पर किसीसे द्वेष भावकी कोई बात नहीं है किन्तु सत् असत्का विवेक बताया है।

(१२-१९) शंका–कांक्षा-विचिकित्सा-मूढ़दृष्टि–अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना यह आठ दोष हैं; ये दोष जिनेन्द्रदेवके भक्तके नहीं होते।

संख्यासे सत् की गिनती नहीं होती किन्तु सत् तो सत्की परीक्षासे सत् है। लौकिक व्यवहारमें भी संख्याकी गणनाकी मुख्यता नहीं है। श्री कृष्ण एक ही थे वे पद्मनाभके सैन्यके साथ अकेले ही लड़े थे और फिर भी उन्हें हटा दिया था, करोड़ों बकरोंके झुंडके लिये एक सिंह ही काफी है। वहाँ पर कोई यह शंका नहीं करता कि एक ही सिंह इतने सारे बकरोंको कैसे भगा देगा? इसीप्रकार जिनेन्द्रदेवका भक्त अन्यमतकी संख्या देखकर घबड़ाता नहीं कि जिस धर्मको अधिक मनुष्य मानते हैं वह धर्म सच्चा होगा कि जिसे थोड़े लोग मानते हैं वह सच्चा होगा? वह तो परीक्षा करके सत्यका निश्चय करता है। देव गुरु अथवा साधर्मियोंके प्रति अरहंतदेवका भक्त अरुचि नहीं करता किन्तु प्रीतिपूर्वक उनका आदर करता है।

(२०–२५) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और उन तीनोंके सेवक यह छह अनायतन हैं। जिनेन्द्रदेवका भक्त इनका आदर नहीं करता।

जो जीव ऊपर कहे गये पच्चीस दोषोंको विचारपूर्वक दूर कर देता है वही जन्म जरा और मरणको मिटानेमें निमित्त-भूत जो परम वैद्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव हैं उनका भक्त कहलाता है। यहाँ पर पच्चीस दोषोंका त्याग 'विचारपूर्वक' करनेको कहा गया है। विचारके बिना मात्र कुलपरम्परासे त्याग हो वह सच्चा त्याग नहीं, किंतु यहाँ पर समझकर विचार-पूर्वक इन दोषोंको दूर करने की बात है। पहले सच्चे देव-गुरु-की पहिचान करके इनकी भक्ति, पूजा, प्रभावना करनी चाहिये; उनके लिये तन, मन, धन इत्यादि खर्च करने पर व्यवहारसे अरहन्तदेवका भक्त कहलाता है, तभी उसके स्थूल मिथ्यात्व छूटता है किन्तु अब तक सूक्ष्म मिथ्यात्व मौजूद है।

खर्च करनेसे लक्ष्मी कम नहीं होती किंतु यदि पुण्य घट जाये तो लक्ष्मीके घटते देर नहीं लगती। जो यह मानते हैं कि खर्च करनेसे लक्ष्मी घट जाती है उन्हें पुण्यका भी भरोसा नहीं है। जब सच्चे देव-शास्त्र और गुरुको पहचान कर उनके लिये तन मन धनका हर्ष पूर्वक उपयोग करता है तब व्यवहारसे भगवानका भक्त कहलाता है। कुदेवादिकका सेवन छूटकर अरहंतदेवका प्रशस्त शुभराग होने पर गृहीत–मिथ्यात्व छूटता है और अंतर-स्वभावकी शक्तिके द्वारा शुभरागका भी इन्कार कर दे कि 'यह राग मेरा स्वरूप नहीं है' तो इसप्रकार शुद्ध स्वभावकी श्रद्धा करने पर उसके परमार्थ सम्यक्त्व होता है, और अनादिका अगृहीतमिथ्यात्व छूटता है; तभी वह वास्तवमें जिनेन्द्र भगवानका भक्त होता है; वही जैन है।

प्रश्न–आपने तन, मन और धन खर्च करनेकी बात कही है सो ठीक है किन्तु यदि इन तीनोंमें से धनको छोड़कर तन और मन लगाया जाय तो ६६ प्रतिशत लाभ होगा या नहीं ?

उत्तर–एक प्रतिशत भी लाभ नहीं होगा। घरके लड़कोंके लिये क्यों सब कुछ करते फिरते हो ? 'पाँच लाख की पूंजी है उसे तुझे देनेका भाव तो है किन्तु तुझे एक पाई भी नहीं दूंगा।' इसप्रकार यदि अपने लड़केसे बात की जाय तो वह नहीं चल सकती; इसीप्रकार जिसे देव-गुरुकी सच्ची भक्ति है वह देव गुरु धर्म की प्रभावना, भक्ति इत्यादिका प्रसंग आनेपर हर्षसे कूदने लगता है और कहता है कि अनन्तकालमें मेरे मनके आँगन-में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव पधारे हैं। मैं अपने भगवानके लिये सर्वस्व अर्पित कर दूंगा। ऐसी भावना तो एकबार ला। सच्चे देव–गुरुका संयोग मिलना अनन्त कालमें दुर्लभ है। देवपद और राजपद इत्यादि मिलना सुगम है किन्तु सच्चे देव गुरुकी प्राप्ति दुर्लभ है।

यह धर्म अपूर्व है, यही करने योग्य है, सब कुछ छोड़कर सच्चे देव-गुरु और धर्म की शरणमें एकबार अर्पित हो जा; जो भगवानका भक्त है वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्मके लिये लक्ष्मीका अमुक निश्चित भाग दानमें अवश्य निकालता है; उत्कृष्टरूपसे चतुर्थ भाग निकालता है, मध्यम रूपसे छट्ठा भाग निकालता है, और जो जघन्य अर्थात् कमसे कम दशवाँ भाग तो अवश्य दानमें लगाता है। संसारमें लड़कों–बच्चोंके लिये क्यों संग्रह करके रख छोड़ते हो ? जिसे देव, गुरु, धर्मकी सच्ची रुचि उत्पन्न हो गई है, उसे तन मन धन खर्च करनेकी उमंग हुये बिना नहीं रहती।

अरे भाई! तुझे अपने इस उत्तम मनुष्यभवका लेखा करना है या नहीं? यदि तुझे अपने मानवभवको सफल करना हो तो सच्चे देव-गुरु और धर्मको पहचान कर उनकी श्रद्धा कर, उनकी भक्ति और प्रभावना इत्यादिमें तन, मन, धन और ज्ञानको लगा। संसारके व्यवहारमें जब कोई अच्छा महमान घर आया हो तब उसकी सुविधाका कितना ध्यान रखा जाता है? उसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान और परमगुरु अनंतकालमें बड़े भाग्यसे तेरे आंगनमें पधारे हैं, उनके प्रति तुझे भक्ति पैदा न हो और यह विचार न आये कि उनकी सुविधा-व्यवस्था भक्ति कैसे करनी चाहिये तो कहना होगा कि तुझे देव-गुरु-धर्मके प्रति सच्ची प्रीति नहीं है।

प्रश्न—आपने ही तो कहा है कि परद्रव्यका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है तो हम देव-गुरुका क्या करें?

उत्तर—यह सच है कि परका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है, किंतु भैया! यदि तुझे परसम्बन्धी भाव ही पैदा न होता हो तब तो ठीक है, लेकिन अभी तू वीतराग तो हो नहीं गया जिससे कि तेरे शुभाशुभ भाव ही न हो। तुझे स्त्री, पुत्र सम्बन्धी अशुभराग होता है और विषय कषायके अशुभभाव भी होते हैं किंतु जब देव-गुरु धर्म सम्बन्धी शुभभावकी बात होती है तब तू कहता है कि पर द्रव्यका परिणमन आत्माके आधीन नहीं है, इसका अर्थ यही हुआ कि तुझे शुभ और अशुभका विवेक ही नहीं है, और जब शुभाशुभका विवेक ही नहीं है तब शुभाशुभ रहित आत्मस्वभावकी पहिचान कहांसे करेगा?

"ज्ञानी कहते हैं कि शुभरागसे धर्म नहीं होता इसलिये हमें देव-गुरुकी भक्ति की ओर कोई उत्साह नहीं होता"—एक ओर तो यों कहना है और दूसरी ओर स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी इत्यादिके अशुभरागमे रत रहता है, इसका मतलब यह हुआ कि उस जीवको निमित्त की परीक्षा करनी नहीं आती, और अपने परिणाममें भी विवेक नहीं है।

यह तो सच ही कहा है कि शुभरागसे धर्म नहीं होता, किंतु यह कहाँ कहा है कि शुभरागको छोड़कर अशुभराग करो ? जिसे निमित्तकी परीक्षाका भान नहीं है वह अपने उपादानस्वरूपको कैसे पहचानेगा ?

भगवान अरहंतदेव, गुरु और सत्‌शास्त्र सत् स्वरूपके समझनेमें निमित्त हैं। भगवान अरहंतदेवका सच्चा भक्त तन, मन, धनसे सद्‌भावरूप भक्ति इत्यादिमें प्रवृत्ति करता है, अपनी शक्ति न हो और यदि कोई दूसरा साधर्मी बन्धु देव, गुरु, धर्मकी प्रभावनादि सत्कर्मोंमें प्रवृत्ति करता है तो वह इसकी कोई ईर्ष्या नहीं करता, किंतु उल्लसित होकर कहता है कि जो मैं चाहता हूँ वह देव गुरुकी भक्तिका कार्य मेरे बदलेमें मेरा साधर्मी भाई करता है—वह धन्य है। इसप्रकार वह स्वयं अनुमोदना करता है किंतु दूसरे की ईर्षा नहीं करता। यदि वह ईर्षा करता है तो समझना चाहिये कि उसकी देव-गुरुके प्रति सच्ची भक्ति नहीं है, उसके भीतर गृहीत मिथ्यात्वकी शल्य मौजूद है।

प्रवचन : ७

सर्वज्ञकी सिद्धि व सच्चे जैनीका कार्य

卐

जिसके आत्माका सर्वज्ञ वीतरागस्वभाव प्रगट हो गया है ऐसे भगवान अरहंतदेवका भक्त कैसा होता है ? यह बात चलती है। समयसारमें निश्चय भक्तिकी अर्थात् अपने शुद्ध स्वरूपकी भक्ति की मुख्य बात है और यहाँ इस सत्तास्वरूपमें व्यवहार भक्ति अर्थात् सर्वज्ञदेवकी भक्तिकी बात है। जिसप्रकार दूसरों को अपने माने हुये कुदेवादिके प्रति प्रेम होता है उनसे भी अधिक प्रेम सच्चे देव-गुरुके प्रति जिन जीवोंको होता है और जो सुदेवादिके लिये हर्ष और उत्साहपूर्वक तन-मन-धन लगाते हैं वे देव-गुरुके प्रति प्रीतिवान कहे जाते हैं, अर्थात् वे व्यवहारसे जिनेन्द्रदेवके भक्त हैं। सर्वज्ञ भगवान और सच्चे गुरु तथा शास्त्रका भक्त होने पर वह तन, मन, धन, वचन और ज्ञान इत्यादिसे उन्हींमें प्रवृत्ति करता है। अभी यहाँ तक आत्माकी श्रद्धा नहीं हो पाई है, किन्तु उन्हें सच्चे निमित्त जो देव-शास्त्र-गुरु हैं उनके प्रति श्रद्धा हो गई है।

पहले सच्चे देव–गुरुको पहचान कर यदि उनके लिये तन, मन, धन अर्पण करनेकी भावना आ जाय और वह कुगुरु कुदेवादिमें प्रवृत्ति न करे तब गृहीतमिथ्यात्व छूटता है और जब उसे आत्माकी इसप्रकार शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है कि 'जैसा सर्वज्ञका स्वभाव है, मेरा भी वैसा ही स्वभाव है, यह राग मेरा स्वरूप नहीं है' तब उसके अनादिकालीन अगृहीतमिथ्यात्व भी छूट जाता है। जो जिनदेवका भक्त होता है वह अन्य कुदेवादिको नहीं मानता; इस कालमें इस क्षेत्रमें सर्वज्ञका अभाव है ऐसे अभावको तो वह साधता है किंतु मिथ्यासद्भावको नहीं मानता, उसकी अनुमोदना नहीं करता और उसका सहायक नहीं बनता। अमृतके अभावमें विषकी साधना नहीं करता अर्थात् यहाँ पर साक्षात् जिनेन्द्र श्री अरहन्त परमात्माके अभावमें अन्य कुदेवादिमें 'यह मेरे देव होंगे' इसप्रकार अपने मनमें देवत्वकी कल्पना भी नहीं करता। किन्तु उसके सच्चे स्वरूपका ज्ञानमें निर्णय करता है।

प्रश्नः—सच्चे देवको देखे बिना उनका निश्चय कैसे होता है ?

उत्तरः—जैसे कोई आदमी किसी बन्द मकानमें वीणा बजा रहा है, यद्यपि वह आँखोंसे दिखाई नहीं देता किन्तु बाहरका आदमी उसकी वीणा बजानेकी कलापद्धति और स्वर–इत्यादिसे उस पुरुषको देखे बिना ही उसकी कला इत्यादिका निर्णय कर लेता है अथवा गानेवालेकी शैली, स्वर और कला इत्यादिसे गानेवालेके स्वरूपका निश्चय कर लेता है, उसीप्रकार इस शरीर-

रूपी मकानमें जो वाणीरूपी वीणा है उसके द्वारा भीतरके आत्माका सर्वज्ञपदका निश्चय हो सकता है; ऐसा नियम नहीं है कि मनुष्यको अपनी आँखोंसे देखकर ही उसका निर्णय होता है। भले ही श्रोतागण बोलनेवालेकी आत्माको अपनी आँखोंसे न देखें फिर भी वाणीके पूर्वापर अविरोधीपनसे यह निश्चय किया जा सकता है कि यह वाणी सर्वज्ञ की ही है। सर्वज्ञपदके प्रगट होने पर वाणी और आत्मा दोनों स्वतंत्र ही हैं; किन्तु भीतर जो ज्ञानका सर्वज्ञत्व खिल उठा है उसका निमित्तपना वाणीमें भी आता है, इसलिये सर्वज्ञका ज्ञान भी पूर्ण है और वाणीमें भी एक समयमें पूरा कथन आ जाता है; ऐसी वाणी सर्वज्ञदेवको छोड़कर दूसरेके नहीं होती। इसप्रकार वाणीसे सर्वज्ञका निश्चय किया जा सकता है।

सर्वज्ञसिद्धिका दूसरा प्रकार

आत्मा ज्ञानस्वरूप है; एक आत्मासे दूसरे आत्मामें अधिक ज्ञान होता है और तीसरे आत्मामें उससे भी अधिक ज्ञान देखनेमें आता है, इसप्रकार उत्तरोत्तर ज्ञानकी वृद्धि होते होते किसी जीवके परिपूर्ण ज्ञान प्रगट हो जाता है। जिस जीवके परिपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है वह सर्वज्ञ है। (अन्वय)

सर्वज्ञसिद्धिका तीसरा प्रकार

एक जीवके जितना रागद्वेष होता है उससे दूसरे किसी जीवको और भी थोड़ा होता है तथा तीसरेके उससे भी कम देखनेमें आता है, इसप्रकार कम करते करते अन्तमें किसी जीवके रागद्वेषका सर्वथा अभाव भी होता है। जिस जीवके रागद्वेषका

सर्वथा अभाव होता है उसके परिपूर्ण ज्ञान होता है और वह सर्वज्ञ कहलाता है। (व्यतिरेक)

इसप्रकार अपने ज्ञानमें सर्वज्ञके स्वरूपका निश्चय करके जो उन्हें देवके रूपमें पूजता है, उनकी श्रद्धा करता है वह अपनी भक्तिसे भगवानको अपने आँगनमें ले आता है अर्थात् वह स्वयं सत्के आँगनमें पहुँच जाता है।

जो व्यवहारसे भी जिनेन्द्र भगवानका भक्त होता है वह अपने हृदयमें मिथ्याभावको स्थान नहीं देता अर्थात् वह वीतराग देव-शास्त्र-गुरुको छोड़कर कुदेव कुगुरु आदिकका समर्थन नहीं करता। वाणी द्वारा अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे असत्का समर्थन नहीं करता, —उसे हृदयमें स्थान नहीं देता। जब वह यह श्रद्धा करले कि सर्वज्ञदेव और कुदेवादिक एक समान नहीं हो सकते तब व्यवहारसे सर्वज्ञकी श्रद्धा कहलाती है। सत्य मार्ग एक ही होता है; तीन लोक और तीन कालमें सत्यके दो मार्ग नहीं हो सकते। वीतराग देवके अतिरिक्त अन्य देवको सच्चा माननेवाला वीतरागका भक्त नहीं है।

कुछ लोग जैनधर्म और अन्यधर्मोका समन्वय करना चाहते हैं किन्तु जैनधर्मका अन्य धर्मोके साथ कभी भी समन्वय नहीं हो सकता। अमृत और विषका समन्वय कैसा ? वीतरागका सेवक वीतरागदेवके अन्तरंग स्वरूपको या बाह्यरूपको अन्यथा न तो कहता है और न मानता है। वीतरागकी वाणी सहज स्वभावसे निकलती है। भगवानकी वाणी दूसरोंको लाभ करनेकी इच्छासे नहीं खिरा करती, भगवान तो बिलकुल वीतराग हो

चुके हैं, उनकी वाणी भी स्वतन्त्र रूपसे खिरती है। उनको वाणीमें वीतरागताका उपदेश है।

अब यहाँ यह कहा जाता है कि वीतरागका सेवक कब कहलाता है और व्यवहारसे जैन कब कहलाता है? वीतरागका सेवक वीतरागसे विपरीत कहनेवालेकी बात कभी नहीं मानता। जैसे बापको (पिताको) गाली देनेवाला बापका दुश्मन है। अच्छा लड़का उसे मान नहीं दे सकता, इसीप्रकार वीतरागकी बातसे विरुद्ध कहनेवालेकी बातको वीतरागका सेवक कभी नहीं मान सकता। वह जिनदेवकी वीतराग प्रतिमाके रूपको सरागरूप नहीं करता। वीतरागकी प्रतिमाके वस्त्रादिक नहीं हो सकते, माला नहीं हो सकती, मुकुट नहीं हो सकता और शस्त्र आदि रागद्वेषके अन्य चिह्न भी नहीं हो सकते। जिनदेव तो वीतराग हैं, आनन्दघन हैं। प्रतिमाजीमें उनकी स्थापना की जाती है।

स्थापना दो प्रकारकी होती है, १—सद्भावरूप—स्थापना २—असद्भावरूप—स्थापना। जिनेन्द्रदेवके अनुसार उनकी मूर्तिमें जिनदेवत्वका आरोप करना सो सद्भावरूप स्थापना है, और पुष्प आदिकमें स्थापना सो असद्भावरूप स्थापना है। इन्हें तदाकार और अतदाकार स्थापना भी कहते हैं। जिनदेवकी प्रतिमामें जिनदेवकी ही स्थापना होती है, इसलिये उस प्रतिमा पर कोई शृंगार आदिक नहीं हो सकता। वह वीतरागदेवका प्रतिबिम्ब है—निर्ग्रन्थ है। इसप्रकार जो व्यवहारसे भी जिनदेवका सेवक है, वह जिनदेवके स्वरूपको अन्यथा नहीं मानता, वह जिन प्रतिमाकी अविनय नहीं करता। यदि कोई जिनदेवकी प्रतिमाका अविनय करता है तो वह उसे सहन नहीं करता और

अविनयादिके स्थानसे स्वयं अपनेको बचाता रहता है। क्योंकि जिनप्रतिमाके अविनयमें बड़ा पाप है। इसीप्रकार जिनदेवकी तरह सद्गुरु और सत्शास्त्रोंके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। इतना करने पर वह शुभरागमें आया हुआ कहलाता है, उसके गृहीतमिथ्यात्व छूट जाता है और वह बाह्य जैन कहलाता है। और जब वह शुद्ध आनन्दघनस्वरूपकी श्रद्धाके बल पर शुभरागसे भी भेदज्ञान कर लेता है तब वह अन्तरंगसे जैन कहलाता है। मेरा परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु देव–शास्त्र-गुरुकी ओर जो शुभ विकल्प उठते हैं वह भी मेरा स्वरूप नहीं है; मैं अखण्ड ज्ञायक हूँ, मेरे ज्ञायकस्वभावमें रागका अंश भी नहीं है—इसप्रकार आत्मस्वभावकी श्रद्धा करना वह परमार्थ श्रद्धा है। जिसने ऐसी शुद्धात्माकी श्रद्धा की वह वीतरागका सच्चा सेवक हो गया, उसका अनादिकालीन विपरीत मान्यतारूप अगृहीतमिथ्यात्व छूट गया, और वह सच्चा जैन हुआ।

जिनेन्द्रदेवका भक्त अरहंत भगवानके अतिशयोंके स्वरूपको लोकव्यवहारमें भी अन्यथा नहीं कहता; ऐसा कोई नियम नहीं कि जो भगवानके समवशरणमें जाता है वह वहाँ धर्मको प्राप्त कर ही लेता है। यदि भगवानके पास पहुँचने मात्रसे सब धर्मको प्राप्त करलें तब तो निमित्तसे कार्य हुआ कहलाया, किंतु ऐसा हो नहीं सकता। लेकिन, जो जीव वहां जाकर स्वयं अपने अंतरंग पुरुषार्थसे धर्मको समझता है वह धर्मको प्राप्त करता है; और भगवानसे धर्मप्राप्ति हुई ऐसा निमित्तसे कहा जाता है।

प्रत्येक तत्त्व स्वतंत्र परिपूर्ण है, तू स्वतंत्र है, तुझे परकी आवश्यकता नहीं है; इसप्रकार भगवान प्रत्येक तत्त्वकी स्वतंत्रताकी

घोषणा करते हैं। भगवान किसीको तार नहीं देते। यदि भगवान दूसरेको तार सकते हों तो वे समस्त विश्वके सब जीवोंको क्यों नहीं तार देते ? और तब तो संसारके अभावका ही प्रसंग आ जाता। भगवानकी वाणी योग्य जीवको तिरनेके लिये निमित्त है, और वह भी यदि स्वयं यथार्थ समझले तो निमित्त कहलाती है; अन्यथा वह निमित्त भी नहीं है।

यदि भगवान किसीको तार सकते होते तो अभीतक अनंत भगवान हो गये हैं फिर भी आज तक किसीने तुझे क्यों नहीं तारा ? यह बात नहीं है कि—भगवानने नहीं तारा इसलिये तूं अभीतक संसारमें चक्कर लगा रहा है, किन्तु सच्ची बात तो यह है कि जैसा भगवानने कहा ऐसे स्वाश्रित स्वभावकी यथार्थ समझके बिना ही अभीतक यह जीव चक्कर लगा रहा है; तत्वकी एक भी बातमें उल्टा नहीं चल सकता। यदि एक भी बात उल्टी हो गई तो समस्त तत्त्व ही विपरीत हो जायगा। सत्‌को समस्त पहलुओंसे बराबर समझना चाहिये। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरकी पेंढ़ी पर बैठकर उनकी ओरसे बात करनी है कि भगवान ऐसे हैं, यह धर्मका राजमार्ग है, यह त्रिकालिक सनातन धर्मकी जाज्वल्यमान पेंढ़ीका स्पष्ट मार्ग है। यह सनातन राजमार्ग अनादिकालसे एक ही प्रकार चला आ रहा है, उसमें कुछ अन्यथा नहीं चल सकता।

कोई कहता है कि भगवानकी मूर्ति तो जड़ है उसको क्यों पूजें ? उसके लिये कहते हैं कि अरे भाई ! अभी तू जड़ चेतनको समझ ही कहाँ पाया है ? जड़ क्या और चेतन क्या इसके स्वरूपको तू नहीं जानता। तेरे शरीर–लक्ष्मी स्त्रीका शरीर आदि

भी जड़ ही हैं, फिर भी तू उन पर क्यों राग करता है ? उसमें पाप बंधता है, आत्मा स्त्री–पुत्रादि नहीं है और तू उनके आत्माको जानता भी नहीं है, केवल इस शरीरमें ही तूं स्त्री–पुत्रादिपना मान बैठा है। अरे ! यह शरीर तो जड़ है, फिर भी तू उन पर अशुभराग क्यों करता है ? और जहाँ देवकी बात आती है वहाँ तू कहता है कि मूर्ति तो जड़ है, तब कहना होगा कि तुझे देव–गुरुकी पहचान ही नहीं है, और न तू उनका भक्त ही है। ज्ञानके बलसे मूर्तिमें सर्वज्ञदेवकी स्थापना करके 'यह सर्वज्ञ ही है' ऐसा समझ कर धर्मी जीव उसका आदर–पूजन–भक्ति करता है, जिनप्रतिमा जिनसारखी कही गई है; 'कहत बनारसी अल्प भव थिति जाकी, सोई जिनप्रतिमा प्रमानें जिनसारखी'।

भगवानके भक्तको प्रथम भूमिकामें देव–शास्त्र–गुरुके प्रति शुभराग हुये बिना नहीं रहता। वह जिनदेवकी सच्ची प्रतिमाकी तथा सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्रकी अविनयादि नहीं होने देता, तथा उसके विरुद्ध कुदेवादिका आदर नहीं करता; इसप्रकार जब सच्चे देव, शास्त्र, गुरुको पहचान कर कुदेवादिकी मान्यताका त्याग करता है तब यह कहा जा सकता है कि इस जीवने मिथ्यात्वका त्याग कर दिया है। जो रुपये पैसे आदिकी आशासे वीतराग भगवानकी मान्यता करता है वह भी भगवानका सच्चा भक्त नहीं है। यदि कोई लौकिक आशासे सच्चे देव–गुरुको मानता हो और कुदेवादिको नहीं मानता हो तो भी उसके गृहीतमिथ्यात्व छूटा हुआ नहीं कहा जा सकता। वीतरागी देव–गुरु तो धर्मको समझनेके लिये निमित्त हैं, उसकी जगह यदि कोई लौकिक आशासे उनको मानता है तो उसके मिथ्यात्वका

अभाव नहीं होगा; धर्मको समझनेकी बात तो अपूर्व है। अभीतक भगवानका सच्चा भक्त होनेका भी जीवको नहीं आया।

विषय कषाय आदिकी अभिलाषासे रहित सच्चे देवादिमें यथार्थ प्रवृत्ति करनेसे गृहीतमिथ्यात्व छूटता है। तुम अपने परिणाममें यह विचार करो कि पहले कुदेवादिमें मेरी जो भक्ति थी, उससे भी अधिक भक्ति सच्चे देव-गुरु आदि पर (उन्हें पहचान कर, उनके प्रति) हुई है या नहीं ? यदि सच्चे देवादिके प्रति आंतरिक उत्साहसे पहलेसे अधिक भक्ति प्रगट नहीं हुई तो कहना होगा कि उसके देव गुरुकी सच्ची प्रीति भी प्रगट नहीं हुई। यदि जिनेन्द्रदेवके प्रति आंतरिक प्रीति प्रगट हुई होगी तो उसका कार्य भी बाहर दिखाई दिये बिना न रहेगा। यदि सच्चे देव, गुरु और धर्मके लिये तन, मन, धन खर्च करनेका उत्साह तेरे मनमें नहीं होता तो समझना चाहिये कि तेरा भविष्य ही खराब है। यदि तेरे अन्तरंगमें सच्चे देव-गुरु और धर्मकी भक्तिका प्रेम नहीं उमड़ता तो तू जो कुछ भी करता है वह मात्र लोगोंके दिखानेके लिये करता है। किन्तु भाई, तू सर्वज्ञके ज्ञानको तो धोखा नहीं दे सकेगा; यह हो सकता है कि तू कदाचित् संसारको धोखा देवे किंतु सर्वज्ञदेवको धोखा नहीं दे सकता। कहनेका तात्पर्य यह है कि तू तेरे आंतरिक भावोंसे भिन्न फल प्राप्त नहीं कर सकेगा। तेरे विपरीत भावोंका अनुकूल फल नहीं मिल सकता। सच तो यह है कि कोई दूसरेको धोखा दे ही नहीं सकता किंतु अपने ही भावको धोखा देता है जो लोभादि कषायकी मंदता भी नहीं करता और मानता है कि मैं धर्म करता हूं—वह खुद अपने आपको धोखा दे रहा है।

जो पहले कुदेवादिके लिये तन, मन, धनसे उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करता था वह अब सच्चे देव–गुरुकी पहिचान होने पर उससे भी अधिक उत्साहसे तन, मन, धन, ज्ञान, काल और क्षेत्र इत्यादिको लगाये बिना नहीं रहेगा। यदि सत्यको समझले तो सत्का बहुमान हुये विना रह ही नहीं सकता। यदि कोई सच्चे देव-गुरु और धर्मके लिये उत्साहपूर्वक तन, मन, धनका खर्च न करे और कहे कि हम सच्चे देव–गुरुको मानते हैं तो समझना चाहिये कि वह कपटी है, उसकी बात गलत है। वास्तवमें देव-गुरुकी महिमा उसने जानी ही नहीं।

प्रश्न—हमने पहलेसे ही कभी कुदेवादिमें भी प्रीति नहीं की, कभी कुदेवादिके लिये भी हमने कोई खर्च नहीं किया और अब सच्चे देव गुरुके लिये भी हम कोई खर्च नहीं करते, तब फिर हमारे परिणाममें कपट कैसे कहलायेगा ?

उत्तर—लड़का बीमार पड़ा हो तब कुदेवादिकी मानता करता है, अथवा औषधि उपचार करता है उसमें यदि कोई कहे कि दोचार हजार रुपया अमुक दवाके लिये खर्च करने होंगे तो वहाँ किसी भी तरहकी आनाकानी किये बिना प्रेमपूर्वक स्वीकार कर लेता है; क्योंकि पुत्रका प्रेम है; वहाँ तो रुपया खर्चते हुए भी पाप है। और जब यहाँ देव–गुरु–धर्मके प्रभावनादि कार्योंमें तन, मन, धन खर्च करनेकी बात आती है तब बहाने बनाता है कि हमारी शक्ति नहीं, हमारे दूसरे खर्च बहुत हो गये हैं। अथवा ऐसा कुतर्क करता है कि वीतरागको तो कुछ आवश्यकता ही नहीं है, शासनका पुण्य होगा तो शासनकी प्रभावना हो जायगी; किन्तु

भैयाजी ! इसप्रकारकी झूठी बहानेबाजी वीतराग मार्गमें नहीं चल सकती। यह तो सच है कि वीतरागको धनादिकी कुछ आवश्यकता नहीं, किन्तु तू अपने रागको भी तो कम कर, तुझे तृष्णा कम करनेकी किसने मना की है। लोकव्यवहारमें शोभा और मान बढ़ाईके लिये लग्नादि प्रसंग पर उत्साहसे तन, मन, धन खर्च करते हो और यहाँ सर्वज्ञ वीतराग देव–गुरु–धर्मकी भक्ति, प्रभावना इत्यादिके लिये तन, मन, धन खर्च करनेका कोई उत्साह ही नहीं होता; तब कहना होगा कि तुम्हें वीतरागदेवकी श्रद्धा ही नहीं है। सिर्फ कहनेका जैनी हो।

प्रश्न—आरम्भ-परिग्रहके कार्योंका तो भगवानने निषेध किया है ?

उत्तर—व्यापार धंधामें या मकान बनानेमें, भोजनादिमें तुझे आरम्भ-परिग्रह नहीं दिखता और देव गुरु धर्मके प्रशस्त कार्योंको आरम्भ परिग्रह बताकर तू उसे टालना चाहता है, तुझे आरम्भ परिग्रहका भान ही कब है ? स्वरूपमेंसे निकल कर परभावमें प्रवृत्ति करना ही आरंभ परिग्रह है। अपने स्वरूपकी विपरीत मान्यतासे रागादि परभावकी पकड़ वही परिग्रह है, और कषायादि विपरीत चारित्र है सो आरंभ है; स्वरूपका भान हुये बिना आरम्भ–परिग्रहको कैसे रोकेगा ? आरम्भ परिग्रह बाह्यमें नहीं किन्तु अपने भावमें है। संसारके प्रति जो अशुभ परिणाम है सो तो तीव्र आरंभ परिग्रह है, और देव–गुरुके प्रति जो शुभराग है उसमें अल्प आरंभ परिग्रह है। प्रथम भूमिकामें देव, गुरु, धर्मके प्रति शुभराग, भक्ति और बहुमान हुये बिना नहीं रह सकता।

वीतरागी देव-गुरु-धर्मके प्रति जो राग है वह प्रातःकालीन अरुणोदयके समान है, जिसके पीछे सूर्यका प्रकाश होगा। अर्थात् स्वभावके बलसे शुभरागको भी दूर करके वह केवलज्ञानरूपी सूर्यको प्रगट कर लेगा, और संसारसम्बन्धी लौकिक शुभराग (परजीवकी दया, दान इत्यादिके भाव) है वह सायंकालकी संध्याके समान है, जिसके पीछे रात्रिका अंधकार है, अर्थात् शुभराग को धर्म मानकर संतुष्ट होता है उसका शुभ भी पलटकर थोड़े ही समयमें अशुभ परिणाम हो जायगा, जिससे वह अशुभ गतियोंमें परिभ्रमण करेगा।

प्रश्न—तब क्या हम सब कुछ दे डालें ? हमारे पीछे स्त्री, बच्चे आदि भी तो हैं।

उत्तर—स्त्री बच्चे हैं सो वे क्या हैं ? यह देव-गुरु सच्चे हैं या स्त्री-पुत्रादि ? स्त्री-बच्चे तो संसारके निमित्त हैं और वीतराग देव-गुरु तो मुक्तिके निमित्त हैं। जबतक परम वीतराग देव-गुरु और धर्मके लिये एकबार सर्वस्व समर्पण कर देनेकी भावना नहीं होती तबतक उसके सच्ची भक्ति नहीं कही जा सकती। वर्तमानमें तेरे साथी अपने माने हुये कुगुरु-कुदेवादिकी भक्ति करते हैं, और तू कुदेवादिको नहीं मानता, किन्तु बंगला, मोटर और बागबगीचा इत्यादिके लिये धन खर्च करता है, लेकिन वीतरागदेव, गुरु और धर्मके लिये खर्च करनेका तुझे उत्साह नहीं होता, इससे स्पष्ट है कि तुझे तेरे देव-गुरुकी महत्ता प्रतिभासित ही नहीं हुई। वीतरागी देव-गुरु बड़े हैं या तेरे बंगला, बाग बगीचे इत्यादि। जगतके सबसे बड़े तारनहार

देवाधिदेव अरहन्त परमात्मा और एकाव भवमें ही मोक्ष जानेवाले परमगुरु व धर्मात्मा जीवोंमें तुझे कोई महत्ता प्रतिभासित हुई है या नहीं ?

वीतरागीदेव, गुरुको बड़ा कहा है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे किसीको कोई फल दे देते हैं किन्तु देव–गुरुके आलम्बनसे तू अपने शुभभाव कर और अपने भावसे फलको प्राप्त कर। भगवान या गुरुके प्रति ऐसा उल्लासभाव धर्मीको सहज ही होता है।

कोई यों कहे कि हमें सत्यको समझनेका समय ही नहीं मिलता ? उसके लिये कहते हैं कि भाई ! तुझे धन, कुटुम्ब इत्यादिकी व्यवस्था करनेका समय मिलता है, धन, कुटुम्ब, मकान, स्त्री, बच्चे, शरीर और इन्द्रियोंके विषय इत्यादिकी सम्हाल करनेके लिये तो समय मिलता है और उनके लिये तन, मन, धन खर्च करता है और यहां वीतराग देव–गुरुकी सेवाके लिये व आत्महितके उद्यमके लिये तुझे समय नहीं मिलता ? यह आश्चर्य है। जिसप्रकार अन्य कार्योंमें प्रवृत्ति करता है उसीप्रकार यदि देव–गुरु–धर्मके लिए प्रवृत्ति नहीं करेगा तो तुझे देव–गुरु–धर्मके प्रति रुचि ही नहीं है; जिसप्रकार तू विवाहादि कार्योंमें अपने पदके अनुसार प्रवृत्ति करता है, अपनी प्रतिष्ठाके अनुसार खर्च करता है। उसीप्रकार जहां जहां देव, शास्त्र और गुरुकी प्रभावना इत्यादिकी अनेक प्रकारसे आवश्यकता हो वहाँ पर भी तू इसीप्रकार उल्लासके साथ प्रवृत्ति करता है या नहीं ? इसमें कहीं कंजूसी तो नहीं करता ? यह तू अपने परिणामका विचार

कर देख। जब तक तुझमें विशेष धर्मवासना नहीं होती अर्थात् आत्मस्वरूपके भानमें सर्व संग त्यागी होकर स्वरूप की विशेष रमणतारूप चारित्रदशा नहीं होती तब तक विवेकपूर्वक देव, शास्त्र, गुरुके लिये तन, मन, धन लगाया कर। भाई! जिसप्रकार तू विवाहादि कार्यमें तेरे पदानुसार धन इत्यादि खर्च करता है उसीप्रकार जब तक गृहस्थाश्रममें है तब तक देव-गुरु-धर्मके लिये तेरी शक्तिके अनुसार तन, मन, धन, क्षेत्र, काल, ज्ञान और श्रद्धा इत्यादिका विभाग कर। यह सब तेरा भाव सुधारनेके लिये कहा जारहा है।

प्रश्न—भगवान धन, क्षेत्र इत्यादिको क्या करेंगे?

उत्तर—अरे मूर्ख! तुझे भगवानको कहाँ देना है? भगवान-के लिये कुछ नहीं करना है, किन्तु यह वीतरागता की रुचि बढ़ाकर तेरी तृष्णा कम करनेके लिये है; तू देव–शास्त्र–गुरुकी प्रभावनाके लिए खर्च कर उसमें तेरी कषाय की मंदताका तुझे लाभ है। यदि तुझे सत्के प्रति रुचि हुई है और धर्मका प्रेम है तो यह देख कि अन्य साधर्मियोंमेंसे किसे किस बातकी प्रतिकूलता है और यह देख जानकर यदि किसीको शास्त्र इत्यादिकी आवश्य-कता है तो उसकी पूर्तिके लिये अपने पदके अनुसार हिस्सा दे। यहाँ पर अपनी पूंजीके अनुसार अपने पदके योग्य खर्च करने को कहा गया है। यदि दसलाखकी पूंजी हो और उसमेंसे सौ दोसौ रुपये खर्च करता है तो वह पदके योग्य नहीं कहा जा सकता। तू जितना देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति प्रभावनामें खर्च करेगा, उतना तेरे पास रहेगा और स्त्री बच्चे आदिके लिये जो संग्रह

कर रखा है उसमेंसे एक पाई भी तेरी साथ नहीं रहेगी। हाँ तेरे साथमें रहेगा तेरी ममताका पाप। यदि लोकव्यवहारमें भी विवेक करना आता है तो यहाँ भी विवेक करना चाहिए।

दृष्टान्त—एक बुढ़िया थी। उसको अपनी पुत्रवधुके साथ अनबन रहा करती थी और अपनी लड़की पर खूब प्रेम था। एक बार उसके लड़केने अच्छा धन कमाया इसलिये उसने अपनी बुढ़िया माँसे कहा कि माँ, मैंने अच्छा धन कमा लिया है इसलिये अब अपनी बहिन और स्त्रीके लिये एक एक हजार रुपयेके गहने बनवाना चाहता हूँ। बुढ़ियाने विचार किया कि लड़कीके लिये जो गहने बनवाये जायेंगे वे तो जब लड़की की शादी होगी तब उसके साथ ही देदेना होगा, इसलिये वे घरमें नहीं रहेंगे, यों विचार करके (यद्यपि पुत्रवधूके साथ उनकी अनबन रहा करती थी, फिर भी) उसने कहा कि—भाई, बहूके लिये एक हजारके बदलेमें डेढ हजारके गहनें भले बनवादे, किन्तु बहिनके लिये तो सौ दौसौ रुपयेके गहने बस होंगे। यद्यपि बुढ़ियाको तीव्र ममता है, किन्तु यहाँ केवल यही देखना है कि बुढ़ियाने यह विवेक (विचार) कर देखा कि इसमेंसे घरमें कितना रहेगा और बाहर कितना जायगा।

इसीप्रकार सच्चे देव, गुरु और धर्म की प्रभावनाके कार्यों में जितना धन खर्च होगा उसके भावका फल तेरे घरमें रहेगा और जो तूने स्त्री आदिके लिये इकट्ठा कर रखा है वह कहीं तेरे साथ रहनेवाला नहीं है वह तो पापका कारण होगा; इसप्रकारका विवेक (विचार) करके अपने तन-मन-धनको देव,गुरु और धर्मके लिये यथाशक्ति अर्पण कर। वह बुढ़िया जितना विवेक कर सकी

क्या तू इतना भी विवेक नहीं कर सकता ? तू अपने पुरुषार्थ से जितनी तृष्णा कम करेगा उतना ही तेरे घरमें रहेगा। जब-तक मुनिपना प्रगट नहीं हो जाता तब तक जो उत्तम गृहस्थ है उसे लक्ष्मीका चतुर्थ भाग, मध्यमको छठा भाग और जघन्यको दशवां भाग देव-गुरु-धर्मकी प्रभावनादिके शुभ कार्योंमें अवश्य खर्च करना चाहिये। जब इन्कमटैक्स देना पड़ता है तब वह क्यों देते हो ? इसीप्रकार यहाँ देव, गुरु और धर्मके लिये भी यथा शक्ति तन मन धन लगाना चाहिये। यदि तुझे देव-गुरु-धर्म की भक्ति प्रभावनाका उल्लास पैदा नहीं होता तो कहना होगा कि तुझे धर्मकार्य फीके लगे हैं और इससे तेरा भविष्य ही खराब मालूम होता है।

भाई ! तुझे तो अपना अच्छा करना है न ? जिसे अपना हित करना हो उसीके लिये यह बात कही जारही है। जिसे अपनी चिन्ता नहीं है उसके लिये कुछ नहीं कहा जा रहा है। भौंरा गुन्जन करता हुआ फूल की कली पर बैठता है और फूलकी कली खिल उठती है किन्तु जब वह लक्कड़ पर बैठता है तब कहीं लक्कड़ नहीं खिल जाता। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हम अध्यात्मरसका गुन्जन कर रहे हैं, जो निकट मुक्तिगामी भव्य जीव होंगे वे अन्तरसे खिल उठेंगे किन्तु जो दीर्घसंसारी जीव होंगे उन्हें यह अध्यात्मरसका उपदेश नहीं रुचेगा।

जगतके प्राणियोंको लोभरूपी कुएँमेंसे निकालनेके लिये श्री पद्मनन्दि-पंचविंशतिकामें दानका उपदेश देते हुये कहा है कि जब तक गृहस्थदशामें हो तब तक देव-शास्त्र-गुरुके लिए तन मन धन लगाते रहो। पैसा खर्च करनेसे कम नहीं होता, किन्तु जब

पुण्य कम हो जाता है तब पैसा कम हो जाता है। जो यह मानता है कि पैसा खर्च करनेसे कम हो जायगा उसे पुण्यके प्रति भी श्रद्धा नहीं है। जब तक पुण्य होगा तब तक पैसा नहीं घटेगा, और यदि पुण्य घट गया तो लाख उपाय करने पर भी पैसा नहीं रहेगा।

यह बात मात्र भाइयोंके लिये ही नहीं किन्तु बहिनोंके लिये भी इसीप्रकार है। उपर्युक्त कथन भाइयों और बहिनोंको एकसा लागू होता है। क्या मात्र पुरुष ही दान कर सकते हैं और स्त्रियोंको दानादि कार्य में पैसा खर्च करनेका अधिकार नहीं हैं ? क्या स्त्री पुरुषका मात्र खिलौना है ? स्त्रीको खुश करनेके लिये कहता कि देख, तेरे यह गहने बनवाये हैं। जब कि वे गहने उसके हैं तो उन गहनोंको बेचकर दानमें खर्च कर देनेका अधिकार स्त्रीको है या नहीं ? क्या उसका इतना ही अधिकार है कि वह अच्छी अच्छी रसोई बनाकर तुझे जिमाया करे ? पैसा खर्च करनेका भी उसका कुछ अधिकार है कि नहीं ? स्त्रीको भी समझना चाहिये कि मैं पुण्य लेकर आई हूँ, मुझे भी सत्कार्यमें धन खर्च करनेका अधिकार है; मतलबके समय तो अर्धाङ्गना-अर्धाङ्गना करते हो तब फिर धन खर्च करनेमें भी मेरा आधा भाग है या नहीं हैं ?

यदि मैं अपनी इच्छानुसार दानादि नहीं कर सकती तो फिर उस आधे भागको मुझे क्या करना है ? क्या मैं उसको पूजूं ? क्या मैं रसोईघरमें ही अपनी जिन्दगी पूरी करने आई हूँ ? मुझे भी देव-गुरु-धर्मके प्रति भक्ति है, इसलिये मैं भी अपनी इच्छाके अनुसार धन खर्च करूंगी। जब मन्दिरमें

भगवानके कलशों आदिकी बोली होती है तब यदि स्त्रियोंको बोली बोलनेकी इच्छा हो जाय तो उन्हें पुरुषोंसे पूछना पड़ता है। देखो तो सही यह कैसी रीति है? सच्चे देव, गुरु और धर्मको पहिचानकर जब उनकी पूजा, भक्ति और प्रभावनादिमें उल्लासपूर्वक तन, मन, धन, ज्ञान और श्रद्धा इत्यादि लगाओगे तब बाह्य जैन बनोगे, तब गृहीतमिथ्यात्व छूटेगा; यह तो अभी स्थूलमिथ्यात्व छूटनेकी, व व्यवहार जैन बननेकी बात कही गई है; विशेष बात आगे कही जायगी।

प्रवचन : ८

मुक्तिमार्गका पथिक जैनी

卐

बाह्य जैनी भी कैसा होता है ? इसका वर्णन चलता है। और समयसार गाथा ३१ आदिमें अन्तरंग जैनी कैसे होते हैं यह बात है। जिसने अपने आत्माके स्वभावके बलसे अपनी पूर्ण दशारूप परमानन्दस्वरूप सर्वज्ञपद प्रगट कर लिया है, ऐसे वीतराग जिनदेवको बाह्य लक्षणों द्वारा पहचान कर माननेवाला बाह्य जैनी है और जो सर्वज्ञ जैसे अपने अन्तरङ्गके वीतराग-स्वरूपकी श्रद्धा करता है वह अन्तरङ्ग जैनी है; अन्तरङ्ग श्रद्धावाला जैनी मुक्तिमार्गका पथिक है।

प्रश्न—जो अन्तरङ्ग स्वरूपको मानता है किन्तु बहिरङ्गमें देव-गुरुको नहीं मानता, वह कैसा कहलायेगा ?

उत्तर—बाह्यमें देव-गुरुको न मानें और अन्तरङ्गकी श्रद्धा हो जाय ऐसा नहीं बन सकता। अपनेको अन्तरङ्ग जैनी (सम्यग्दृष्टि) कहलाये और बाह्यमें वीतरागी देव-गुरुके प्रति विनय-भक्ति आदिसे न प्रवर्ते तो वह दम्भी है ऐसा समझना। उसका अन्तरङ्ग जैनीपना भी झूँठ ही है।

अपने अन्तरङ्ग स्वरूपका भान करना सो अभ्यन्तर जैनत्व है, उस जैनत्वके प्रगट हुये बिना वीतरागता नहीं आसकती और अन्तरङ्ग जैनत्व प्रगट होनेके साथ जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक देव-गुरु-धर्मकी भक्ति प्रभावना इत्यादिका शुभराग होता है। यह सर्वज्ञ भगवानका शासन है। एक समयमें तीनकाल और तीनलोकको जाननेवाले सर्वज्ञदेव जागृत चैतन्य-ज्योति हैं और उनके द्वारा प्रकाशित यह मार्ग है, उसमें अन्यथा कुछ नहीं चल सकता। जो अन्तरङ्ग स्वरूपकी श्रद्धा करके अन्त-रङ्ग जैनी बनता है उसका तो कहना ही क्या है ? वे तो जिनेश्वरदेवके लघुनन्दन ही हो गये। अन्तरंग जैनत्व अपूर्व वस्तु है; यहाँ तो बाह्य जैनी भी कब बना जा सकता है यह बात समझाते हैं। बाह्य जैन हुये बिना अन्तरङ्ग जैन नहीं हुआ जा-सकता। यदि कोई कुदेवादिको छोड़कर तन, मन, धनसे सच्चे देवादिकी भक्ति नहीं करता तो वह बाह्य जैन भी नहीं है। सच्चे देव, गुरु और धर्मका मिलना अनन्तकालमें भी दुर्लभ है; वे धर्मके निमित्त हैं। पहले सच्चे बाह्य यथार्थ निमित्तोंकी श्रद्धा भक्ति हुये बिना अन्तरङ्गके उपादान स्वरूपकी श्रद्धा भी नहीं हो सकती।

प्रश्न—आपने अपने एक प्रवचनमें कहा था कि देव-गुरु शास्त्र किसीको समझा नहीं देते।

उत्तर—हाँ, यह ठीक है; किन्तु यह किसने कहा है कि वे निमित्त भी नहीं हैं ? सत्को समझनेके लिये सच्चे देव, गुरु और शास्त्रका ही निमित्त होता है। किन्तु यहाँ यह नहीं भूल जाना चाहिये कि 'निमित्त परका कुछ नहीं करता' और 'सत्में सत् निमित्त आये बिना नहीं रहते'। यदि पहले सच्चे देव, शास्त्र और

गुरुको पहचान कर उन्हें निमित्तके रूपमें स्वीकार न करे और कुदेवादिको माने उन्हें तो वाह्य जैनपना भी नहीं हो सकता; उसे वीतरागके प्रति रुचि भी उत्पन्न नहीं हुई है।

"हे नाथ! हे देव! तेरी भक्तिके आगे मुझे इन्द्रपद, कामधेनुगाय, चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष अथवा चक्रवर्तीका राज्य यह सब सड़े हुये तृणके समान मालूम होता है।" ऐसे भावोंके साथ गणधर और इन्द्र भी अरहन्तदेवकी भक्ति करते हैं। यद्यपि उन्हें आत्माका भान है किन्तु अभी पूर्ण दशा प्रगट नहीं हुई, इसलिये उनके बीच बीचमें ऐसा शुभराग आजाता है। वे अन्तरङ्गमें समझते हैं कि 'यह शुभराग है वह मेरा स्वरूप नहीं है, जब इस शुभरागको दूर करूँगा तब वीतरागता प्रगट होगी।' इसप्रकार देव, गुरु और धर्मके प्रति शुभराग हुये बिना नहीं रहता, किन्तु उस शुभरागसे धर्म नहीं होता। जिन्हें विचक्षण ज्ञान (केवलज्ञान) प्रगट हो चुका है ऐसे त्रिलोकीनाथ और उनके अनुयायियोंको छोड़कर त्रिकालमें किसीने न तो सत् धर्मको कहा है और न कह सकेगा। जो ऐसे वीतरागदेवकी न तो श्रद्धा करते हैं और न ज्ञान करते हैं तथा जो अपनी क्रियाको भी नहीं सुधारते अर्थात् जो रागकी दिशाको नहीं बदलते वे व्यवहार जैनी भी नहीं हैं।

प्रश्न—यदि आप कहें तो हम दो चार वस्तुके त्याग करदें, किन्तु हमें जैनमें तो शामिल रक्खो?

उत्तर—जो अरहन्तदेव और निर्ग्रन्थ मुनि-गुरुको नहीं पहचानता और जिसे अन्तरङ्गसे उनके प्रति भक्तिका उल्लास जागृत नहीं होता तथा जो उनके लिये तन मन धन खर्च नहीं

करता वह भले ही बाहरमें त्यागी जैसा हो तो भी उसको व्यवहारसे भी जैनत्व नहीं है; मिथ्यात्वके सेवनसे वह अपने निर्मल भावरूपी अनन्ती हरीको चबा खाता है; यह आत्मा स्वयं हरा भरा आनन्दमूर्ति वीतरागस्वरूप है, इस वीतरागस्वरूपकी जो भक्ति नहीं करता, उसके आत्माके आनन्दकी हिंसा होती है, और यही आत्माके हरे भरे स्वरूपकी भावहिंसा है। इस भाव-हिंसाका फल चतुर्गतिभ्रमण है; तुझे इस भावहिंसासे बचना हो तो वीतरागदेवको पहचान और उनके दिखाये आत्मस्वरूपको जान। अरे! यदि तू सच्चे देव गुरुको मानता हो तो यह देख कि तूने अपनी कमाईका चतुर्थांश षष्ठमअंश या दशमअंश भी देव-गुरु-धर्मकी प्रभावना इत्यादिके लिये निकाला है या नहीं? जो अपने भावकी क्रियाको भी नहीं सुधारता अर्थात् अशुभ छोड़के शुभमें भी नहीं आता वह वीतरागका भक्त नहीं है।

ध्यान रहे कि यह बात मात्र पुरुषोके लिये ही लागू होती है ऐसा नहीं है किन्तु स्त्रियोके लिये भी एकसी लागू होती है। स्त्रीके लिये गहने बनवा दिये जाते हैं किन्तु उस पर उनका अधिकार है या नहीं? स्त्रीको यदि कुछ दानादिमें खर्च करना हो तो वह खर्च कर सकती है या नहीं? बहुत सी स्त्रियोंके पास धन तो होता है किन्तु वह उसे खर्च नहीं कर सकती, मरण तक ज्योंके त्यों पड़ा रहता है; तीव्र लोभी आदमी अपने जीते जी कुछ खर्च नहीं कर सकता।

कोई जीव, देव-गुरु-धर्मके लिये कुछ करनेकी बात आती है तब तो अनेक बहाने निकालता है लेकिन वह बंगला-मोटर,

शादी इत्यादिके लिये हजारों रुपये खर्च करता है, वे कहाँसे लाता है ? जब धर्मकी बात आती है तब कहता है कि मेरे पास इतना धन खर्च करनेकी गुंजाइश नहीं है, लेकिन लड़केकी शादी इत्यादिके लिये बहुत लम्बा विचार करता है और उत्साहसे खर्च करता है; लेकिन क्या कभी वह उसीप्रकार देव गुरु धर्मके लिये भी विचार करता है ? उनकी महिमा प्रभावना इत्यादिके लिये कुछ करनेका भाव भी कभी होता है या मात्र लूखी बातें ही करते हो ? जिसे देव–शास्त्र–गुरुकी प्रभावना और भक्तिके लिये उल्लास नहीं होता वह वीतरागका भक्त नहीं है। जो वीतरागका भक्त होता है उसे जब देव–शास्त्र–गुरुकी प्रभावनादिके कार्योंमें तन मन धन लगानेका सुअवसर प्राप्त होता है तब वह उल्लास से कूद पड़ता है और कहता है कि "अहो, धन्य है यह सुअवसर, धन्य है यह प्रसंग, धन्य हैं देव-शास्त्र और गुरु। भला देव-शास्त्र-गुरुके कार्यसे बढ़कर और कौनसा कार्य हो सकता है ? मेरे हाथोंसे देव गुरु धर्मकी प्रभावना हुई, मेरा जीवन धन्य हो गया।" इसप्रकार जो तन, मन, धनसे उल्लासपूर्वक देव-शास्त्र-गुरुकी भक्ति नहीं करता उसका जीवन व्यर्थ है।

कोई वीतरागी देव-गुरु-धर्मके लिये तन, मन, धन खर्च नहीं करता और अपने बचावके लिये कहता है कि "भाई, वीतरागका मार्ग तो स्वयं वीतरागद्वारा ही सुशोभित होरहा है, इसमें मेरा क्या चल सकता है ? शासनका पुण्य अलौकिक है, उसीसे शासन सुशोभित होरहा है।" उसके उत्तरमें कहते हैं कि तेरे स्त्री पुत्रादि भी पुण्यसे 'सुशोभित' होरहे हैं फिर उनके लिये क्यों मुफ्तमें परिश्रम करता है। वहाँ तो तू उल्लास-

से सब कुछ करता है। और पाप बांधता है और यहाँ पर कोरी बातें बनाता है। भले, शासन तो उसके पुण्यसे चल ही रहा है; किन्तु तू अशुभ रागको छोड़कर शुभराग क्यों नहीं करता ? यदि वीतराग देवको मानते हो तो अशुभरागकी दशाको बदलकर देव-शास्त्र-गुरुके लिये उल्लासपूर्वक तन मन धन लगाओ। मात्र कोरी बातोंसे सूखी बातोंसे पांच अज्ञानी आलसी आदमियोंके साथ सम्बन्ध रखनेके लिये प्रमादी बनकर, बाह्य जैनी बनना चाहते हो, किंतु अंतरंग भावोंके बिना यथार्थ फल नहीं मिलेगा और जब यह अवसर (मनुष्यदेह) चला जायगा, तब तू ही पश्चाताप करेगा।

पहले गृहीतमिथ्यात्वकी दशामें विपरीत मान्यताके कारण कुदेवादिमें तन मन धन लगाये रहते थे और जब सच्चे देव गुरु धर्मके लिये उससे अधिक खर्च नहीं करते, तब क्या यह माना जाय कि जैनमतमे आनेसे तुम्हारी शक्ति उल्टी कम हो गई है ? अथवा कपटसे मात्र लोगोंको दिखानेके लिये जैनी हुये हो, या तुम्हें त्रिलोकीनाथ परमात्मा अरहन्तदेव की सत्यता और महत्ता प्रतिभासित नहीं हुई है ? अथवा यों माना जाय कि तुम्हें देव-गुरु-धर्म की भक्तिका कोई फल दिखाई नहीं देता। इतने प्रकार बता दिये गये हैं, इनमें से कहीं न कहीं तुम्हारा मन जरूर अटक रहा है, अन्यथा देव-गुरु-धर्मकी भक्ति और उनके प्रति बहुमान हुये बिना नहीं रह सकता। सच्चे देव, शास्त्र और गुरु की भक्तिमें सत्के निमित्तोंका बहुमान है, उसमें उच्च शुभभावका फल महान् है। सांसारिक पाप कार्योंका फल तो अशुभ है। सच्चे देव गुरुकी भक्तिका शुभफल मिले विना नहीं रहता।

मालूम होता है कि तुम्हें सर्वज्ञदेवका यथार्थ रहस्य ज्ञात नहीं हुआ है, अतएव तुम उल्लासपूर्वक भक्ति इत्यादिमें तन, मन, धन नहीं लगाते। यदि तुम्हें सर्वज्ञदेवकी वास्तविक सच्चाई प्रतिभासित हो गई होती तो तुम्हें उस ओर स्वयं उत्साह क्यों नहीं होता? "अहो हमारा अवतार धन्य है कि हमें ऐसे सर्वोत्कृष्ट देव-गुरु धर्मकी भक्ति-प्रभावनाका प्रसंग प्राप्त हुआ, यह तो हमारा ही कार्य है, धन्य, धन्य। हमारा यह धन्य भाग्य है कि हमारे हाथोंमें यह कार्य आया है।" इसप्रकार तुम स्वयं उत्साहरूप प्रवृत्ति क्यों नहीं करते? यदि देव-गुरुके प्रति सच्ची प्रीति उत्पन्न होगई हो तो उस कार्यमें उत्साहपूर्वक तन, मन, धन, काल और ज्ञान इत्यादि लगाना चाहिये।

यदि तुम्हें सत्‌की रुचि हुई है तो, 'यदि सत् की विशेष प्रसिद्धि हो तो जगतके जीवोंको सत्‌का लाभ मिले' इसप्रकारकी भावनासे तुम यथार्थ रीत्या सुखरूप देव-गुरु-धर्मकी प्रभावनादिके कार्यमें प्रवृत्ति क्यों नहीं करते हो? हम तो कहेंगे कि तुम्हें देवकी यथार्थता ही ज्ञात नहीं हुई। यहां पर प्रभावना इत्यादिमें सुखरूप (अपने हर्षपूर्वक) प्रवृत्ति करनेको कहा है, किसीके कहनेसे, कानून से, जातिके रिवाजसे या लोकभयसे प्रवृत्ति करनेकी बात नहीं है किन्तु स्वयं ही भक्तिसे देव, गुरु, धर्म की प्रभावना इत्यादिमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति करनी चाहिये।

जिसप्रकार रोगीको दवा करना नहीं रुचता तो समझना चाहिये कि उसका मरण निकट है, उसीप्रकार तुम्हें देव-गुरु धर्मके लिये उल्लास नहीं होता तो समझना चाहिये कि तुम्हारा

भविष्य बुरा है। जो देव-गुरु धर्मके लिये लोभ करता है उसके समान कपटी दूसरा कोई नहीं है। वीतरागदेवने जिसे स्वीकार कर लिया है कि "यह प्राणी योग्य है" उसके समान उत्तम और दूसरा कौन हो सकता है? और वीतराग की वाणीमें जिसका अस्वीकार किया गया कि "यह प्राणी योग्य नहीं" तो उसके समान हलका और कौन होगा?

जैसे कोई स्त्री अज्ञानसे पर पुरुषको अपना पति मानकर उसकी सेवा-भक्ति किया करती थी, उसे अच्छे अच्छे भोजन जिमाया करती थी, किन्तु जब बहुत समयके बाद भाग्योदयसे उसे अपना सच्चा पति मिला और उसको पहचाना तब, वह स्त्री पहले जो उत्साह पर पुरुषके लिये रखती थी वह अपने सच्चे पतिके लिये शक्य होने पर भी नहीं करती, उसके साथ प्रेम और उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति नहीं करती तो निश्चयतः वह कुलटा ही है, उसे अपने सच्चे पतिके प्रति प्रीति ही नहीं है, इसीप्रकार तुमभी प्रथम तीव्र अज्ञानसे मिथ्यादेव और कुगुरुको सच्चा मानके उसके लिये रसपूर्वक प्रवृत्ति करते थे और अब बहुत बड़े सौभाग्यसे सच्चे देव, शास्त्र, गुरु मिले हैं—सच्चे स्वामी जिनदेवकी प्राप्ति हुई है कि जिनसे सुख मिलता है और जन्म-मरणका दुःख दूर होता है, उनकी प्राप्ति होने पर भी तुम पहले की तरह तन मन धनसे भक्ति इत्यादिमें प्रवृत्ति नहीं करते हो तो तुम भी कुलटा स्त्रीके समान हो। उस कुलटा स्त्रीके समान ही तुममें भी महामिथ्यापन भरा हुआ है। अपनेको धर्मात्मा कहलवाता है, वीतरागका सेवक कहलवाता है किन्तु वीतरागदेवके कार्योंमें

सहर्ष प्रवृत्ति नहीं करता, यह बड़े आश्चर्यकी बात है। तेरा बड़ा कपट है।

ग्रन्थकार कहते हैं कि भाई! तुम्हीं विचार कर देखो कि यह दोष तुममें है या नहीं? हम तुम पर जबर्दस्ती दोषारोपण नहीं करते, किन्तु यदि तुम्हारे अन्तरंगमें इसी प्रकारकी प्रवृत्ति बनी रही तो वह दोष तुम्हारे घरमें स्वयं दौड़कर आयगा।

कुगुरु-कुदेवको छोड़कर सच्चे देव और सच्चे गुरुके प्रति यथार्थ रसरूप हर्षपूर्वक कार्य करेगा तभी धर्मीपन आयगा। मात्र कोरी बातोंसे धर्मीपन नहीं आता। पहले सच्चे देव-गुरुकी भक्ति, बहुमान, विनय यह सब भले हो किन्तु कुछ लोग तो उसीमें धर्म मानकर अटके पड़े हैं वे यथार्थ वस्तुको नहीं समझते; और कुछ लोगोंने जिनदेवकी प्रतिमा भक्ति पूजन इत्यादिका जड़-मूलसे ही निषेध कर दिया है, वे भी वास्तविक तत्त्वको समझ नहीं पाये। पहले कुदेव कुगुरु की मान्यताको छोड़कर सच्चे देव-गुरु धर्मको माननेसे अशुभभाव कम होकर शुभभाव बढ़ जाता है और धर्मका—वीतरागमार्गका उत्साह बढ़ता है। देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति आदिके शुभ परिणामसे शुभ फल मिलता है; जो सच्चे देव-शास्त्र, गुरुको मानता है उसके पूर्वकृत पाप भी कम हो जाता है और पुण्य बढ़ जाता है; इन दोनों से रहित आत्मस्वरूपकी पहिचान करना सो वर्तमान अपूर्व धर्म है।

यह खास ध्यानमें रखना चाहिए कि पुण्य, पाप तथा धर्म वह पैसेसे नहीं होता। पैसा जड़ वस्तु है, उससे आत्माका धर्म तो हो ही नहीं सकता। पैसेसे न तो पुण्य होता है और न पाप ही। पैसेका आना जाना जड़की क्रिया है, वह स्वयं जड़ है,

उसका कर्ता जड़ है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है, और आत्माको उस जड़की क्रियाका फल भी नहीं होता। जड़से भिन्न और पुण्य पापके विकारसे भी रहित चैतन्य स्वभावकी सच्ची पहिचान-के साथ श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरताका होना सो धर्म है। रुपये पैसे की तरफ तीव्र तृष्णारूप जो पापभाव होता है उसे कम करके यदि तृष्णाको कम किया जाय और देव गुरु धर्मकी प्रभावना आदि कार्योंमें उपयोग लगावे तो उस भावसे पुण्य होता है। जीव अशुभभावको छोड़कर जब तृष्णाको कम करनेका भाव करता है तब धन इत्यादिका लोभ मन्द होने पर धन आदिक खर्च होता है, इसप्रकार लगभग निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध होता है, और यदि रुपये पैसे पर तीव्र तृष्णा करे तो उस भावसे पाप होता है; इसप्रकार आत्माके परिणामसे ही धर्म अथवा पुण्य पाप होता है। धर्म आत्माकी शुद्ध क्रिया है, और पुण्य पापके भाव आत्माकी अशुद्ध क्रिया है, तथा पैसे इत्यादिका आना जाना जड़की क्रिया है; आत्मा की क्रियाका कर्ता आत्मा है, और जड़की क्रियाका कर्ता जड़ है। आत्मा और जड़ दोनों पृथक् पदार्थ हैं, वे एक दूसरेका कुछ नहीं कर सकते।

इसप्रकार जड़ और चेतन दोनों पदार्थ भिन्न भिन्न हैं तथा उनके कार्य भी अलग अलग हैं, इतना समझ लेनेके बाद जीव अपने परिणामकी ओर देखता है; अपने परिणाममें पापभावसे बचनेके लिये पुण्यभाव आता है, वह पुण्यभाव भी विकार है और उस विकारसे रहित अविकारी भाव अर्थात् आत्मस्वरूपकी यथार्थ समझरूप जो भाव है वही धर्म है, इसप्रकार धर्म और पुण्यके बीचमें जो अन्तर है उसे समझना चाहिए। धर्मका

उपाय यथार्थ समझका होना ही है। पुण्य धर्मका उपाय नहीं है क्योंकि पुण्य विकार है और धर्म अविकारी है। विकारके करते करते अविकारीपन कभी नहीं हो सकता।

पहले संसारसम्बन्धी अशुभभावको बदलकर और सच्चे देव-गुरु धर्मको पहचानकर जब जीव उस ओरका शुभभाव करता है तब गृहीतमिथ्यात्वसे छूटता है, किन्तु सत्देव, गुरु और धर्मकी ओर जो शुभराग होता है उससे धर्म नहीं होजाता। देव गुरु धर्मको बाह्यसे पहचानकर इस जीवने गृहीतमिथ्यात्व अनन्तबार छोड़ा फिर भी अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं समझ पाया, और इस सूक्ष्म मिथ्यामान्यताको नहीं छोड़ा कि पुण्यसे धर्म होता है, इसलिये उसे यथार्थ धर्म प्राप्त नहीं हुआ और वह अनन्त संसारमें चक्कर लगाता रहा। पहले देव, गुरुको पहचान-कर देव-गुरुसे भिन्न तथा उनकी ओर जो शुभभाव है उससे भी यथार्थतः पृथक् ऐसे निज आत्माको पहचानकर उसकी श्रद्धा और स्थिरता करना सो धर्म है; ऐसा करनेवाला जैनी मुक्तिमार्गका पथिक है, उसीसे अनन्त संसारका नाश होकर अविनाशी सुखकी प्राप्ति होती है। यही है मुक्तिका मार्ग।

卐 वंदन हो मुक्तिके मार्ग दिखानेवाले सन्तोंको 卐